ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन

युधिष्ठिर मीमांसकः

ऋषि दयानन्द सरस्वती

का

पत्र-व्यवहार और विज्ञापन

(परिष्कृत तथा परिवर्धित संस्करण)

[प्रथम भाग]

सम्पादक—

वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास आदि अनेक
ग्रन्थों के रचयिता, शतश: लुप्त संस्कृत ग्रन्थों के उद्धारक,
दयानन्द महाविद्यालय लाहौर के भूतपूर्व
अनुसन्धानाध्यक्ष तथा महिला
विद्यापीठ के संस्थापक

श्री पं० भगवद्दत्त जी बी० ए०

पत्रों के प्रमुख अन्वेषक—

श्री महाशय मामराज जी आर्य (खतौली)

परिष्कर्ता एवं परिवर्धक—

युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़
(सोनीपत-हरयाणा)

चतुर्थ संस्करण
सं० २०५०, आश्विन, पूर्णिमा
अक्तूबर, सन् १९९३

विशेष—१. इस संस्करण में अनेक नये पत्र-पत्रांश, विज्ञापन-विज्ञापनांश, पत्र-पारसल-सूचना, तार-सारांश आदि प्रथम वार छपे हैं।

२. इसके दो भागों में ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन हैं।

३. तीसरे और चौथे भाग में ऋषि दयानन्द को भेजे गये विविध व्यक्तियों के पत्र-पत्रांश पत्र-सूचना आदि छपे हैं।

मूल्य—
प्रथम भाग—
द्वितीय भाग—
तृतीय भाग—
चतुर्थ भाग—

मुद्रक—
रामकिशन सरोहा
सरोहा प्रिंटिंग प्रेस
(बहालगढ़-सोनीपत)
१३१०२१

आवश्यक सूचनायें

१. पत्र और विज्ञापनों का पाठ हमने उनके मूल उपलब्ध पाठ के अनुरूप ही छापा है। अशुद्ध लिखे गये पाठों को शोधने का यत्न नहीं किया गया है। केवल कहीं-कहीं अल्पविराम अर्धविराम पूर्णविराम प्रश्न आदि के चिह्न लगाये हैं। ५-७ स्थानों पर अत्यधिक लम्बायमान सन्दर्भों को सुगमता के लिये तोड़ कर नये सन्दर्भ बनाये हैं।

२. कुछ पत्र और विज्ञापन मूलत: उर्दू भाषा में लिखे गये थे और श्री पं० लेखराम जी कृत उर्दू जीवन-चरित में छपे थे। उन्हें हम ने जीवन-चरित के हिन्दी संस्करण से लेकर छापा है। यथा पूर्ण संख्या १८८, १८६, १६२, १६३, १६८, १६६, २०१ आदि।

३. संस्कृत, अंग्रेजी, गुजराती और मराठी भाषा में मुद्रित पत्रादि का जो भाषार्थ छापा गया है, वह भाव-प्रधान है।

४. हिन्दी के टाइप में इ ई उ ऊ ऋ ॠ ए ऐ ओ औ की मात्रायें अनुस्वार तथा ऊपर लगनेवाला रेफ का चिह्न प्राय: छपते-छपते टूट जाते हैं। इनके टूटने से हुई अशुद्धियां सभी प्रतियों में समान रूप से नहीं होती हैं तथा सरलता से पहचानी जा सकती हैं। अत: इस प्रकार की अशुद्धियां संशोधन-पत्र में नहीं दी जायेंगी।

वस्तुत: निर्दोष छपाई के लिये बम्बईया टाईप ही उपयुक्त होता है। परन्तु उसका भाव तीन गुना अधिक होने और उसका कम्पोज करनेवाले (अक्षर-संयोजकों) के न मिलने तथा उसमें अक्षर-संयोजन (कम्पोज) में अधिक काल लगने से छपाई की लागत ४-५ गुनी बढ़ जाती है। इस कारण मुद्रक हिन्दी ग्रन्थों की छपाई में बम्बईया टाईप काम में नहीं लेते हैं।

५. प्रस्तुत संस्करण में **प्रथम और द्वितीय भाग** में ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापनों का संग्रह होगा। द्वितीय भाग के अन्त में दोनों भागों में छपे पत्र और विज्ञापनों से संबद्ध अनेक विषयों के लगभग ११ परिशिष्ट दिये जायेंगे। **तृतीय और चतुर्थ भाग** में विविध व्यक्तियों द्वारा ऋषि दयानन्द को भेजे गये पत्रों का संग्रह होगा और अन्त में इस भाग में छपे पत्रों से संबद्ध अनेक विषयों के परिशिष्ट दिये जायेंगे।

युधिष्ठिर-मीमांसक

ओ३म्

प्रकाशकीय वक्तव्य

महापुरुषों के रचित ग्रन्थ जहां उनकी अपूर्व योग्यता, भावना और प्राणिमात्र के लिये हितचिन्तन के परिचायक होते हैं, वहां उनके जीवन-वृत्त उनके महापुरुषत्व तक पहुंचने के सभी उपायों का प्रकाशन करते हैं। उनके सामान्य व्यवहार तथा वार्तालापादि विशेषकर उनका पत्रव्यवहार हमें उनके व्यक्तिगत जीवन के प्रायः सभी अङ्गों के अत्यन्त समीप तक ले जाने में सहायक होते हैं और अपने उद्देश्य वा सिद्धान्तों की पूर्ति के लिये उनके द्वारा किये भगीरथ-प्रयत्नों को जनता के समक्ष रख देते हैं। उनकी कृतियों को छोड़कर शेष सब साधन उनके जीवन के पश्चात् ही जनता द्वारा संगृहीत हुआ करते हैं, यह एक प्रायिक नियम है। यह भी निर्विवाद है कि इन सब में महापुरुषों की कृतियां उनके सिद्धान्तों वा धारणाओं की मुख्य प्रकाशक होती हैं। शेष सब उनके जीवन-काल के पश्चात् संगृहीत होने तथा उन सारी परिस्थितियों के ओझल हो जाने से, जिन में कि उक्त प्रयत्न जीवनवृत्त वा पत्र व्यवहारादि किये जाते हैं, गौणतया ही प्रकाशक मानने पड़ते हैं।[1] पुनरपि उनके भावों को समझने में ये अत्यन्त सहायक होते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती युगनिर्माता हुए। जहां उनकी कृतियां हमें प्राचीन विशुद्ध संस्कृति सभ्यता और साहित्य का वास्तविक दिग्दर्शन कराती हैं, वहां उनके पूना के व्याख्यान[2] तथा

---

१. जिस समय यह प्रकाशकीय वक्तव्य लिखा गया था, उससे कुछ वर्ष पूर्व किन्हीं मनचले व्यक्तियों ने ऋषि दयानन्द के नाम से कुछ जाली पत्र छपवाये थे। अतः यहां पत्रव्यवहार को भी साथ में गिन लिया है। मुद्रित पत्रों की प्रामाणिकता को न्यून करने का लेखक का तात्पर्य नहीं है, अन्यथा पूज्य गुरुवर्य इन्हें प्रकाशित ही नहीं करते। यु. मी.

२. पूना के व्याख्यान, जो 'पूना-प्रवचन' अथवा 'उपदेश-मञ्जरी' के नाम से छपे हैं, वे भी बड़े महत्त्व के हैं। पुनरपि व्याख्यानों का सार अन्य व्यक्तियों द्वारा संगृहीत किये जाने, उनका मराठी में भाषान्तर करने तथा मराठी से पुनः आर्यभाषा में अनूदित होने के कारण कहीं-कहीं साधारण

पत्रव्यवहारादि से हमें मानवसमाज के हित से प्रेरित होकर किये गये उनके भगीरथ-प्रयत्नों को समझने में अत्यन्त सहायता मिलती है।

हमें उन सभी महानुभावों के प्रति कृतज्ञ होना चाहिये, जिन्होंने ऋषि दयानन्द के पत्रों को सुरक्षित रखा, उन्हें संगृहीत करने में घोर प्रयत्न किये तथा प्रकाशन में लाये। ऐसे महानुभावों में धर्मवीर श्री पं० लेखराम जी तथा महात्मा मुंशीराम जी (पश्चात् श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी) मुख्य कहे जा सकते हैं, जिनके द्वारा इस कार्य का उपक्रम हुआ।

आर्य जनता के समादरणीय वैदिक साहित्य के अनेक अमूल्य रत्नों को भारतीय जनता के समक्ष लानेवाले, सामान्यतया पंजाब में, विशेषतया आर्यसमाज में वैदिक अनुसन्धान के प्रवर्तक वा उन्नति पर पहुंचानेवाले, प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्त जी ने निरन्तर अनेक वर्षों के घोर प्रयत्न से ऋषि के इन पत्रों का संग्रह किया तथा कराया। उनके इस पवित्र कार्य के लिये आर्य जनता इनकी सदा ऋणी रहेगी। इन्होंने जहां अपना बहुत सा अमूल्य समय इस में लगाया, वहां पत्रों के संग्रह में निज का धन भी बहुत सा व्यय किया। अनेक स्थानों में स्वयं जाकर तथा पत्रव्यवहारादि द्वारा अनेक पत्र प्राप्त किये। श्री पण्डितजी की अध्यक्षता में खतौली जिला मुजफ्फरनगरनिवासी आर्यसमाज तथा ऋषि में परम निष्ठावान् आर्यसज्जन म० मामराजजी ने वर्षों इन पत्रों के संग्रह करने में घोर कष्ट सहन किया। इनके साक्षी वे ही हो सकते हैं, जिन्होंने कि इन्हें प्रत्यक्षरूप में यह कार्य करते देखा है। ऋषि के पत्रव्यवहार वा ऋषि-जीवन की सामग्री प्राप्त करने में इनके हृदय में एक प्रचण्ड अग्नि-सी धधकती रहती है। यदि वे अपना जीवन इसी पवित्र कार्य में लगा सकें तो आर्यजनता का महान् उपकार हो सकता है। आप श्री पण्डित जी के सहायक रूप में इस कार्य के लिये अत्यन्त ही उपयोगी हैं।

[illegible] भूलें मुद्रित पूना-प्रवचनों में मिलती हैं, परन्तु सिद्धान्त का कहीं महत्त्वपूर्ण भेद उपलब्ध नहीं होता है। रामलाल कपूर ट्रस्ट से हमने जो पूना-प्रवचन छापा है, उसके ८-९ व्याख्यान पुराने मराठी में छपे हुए व्याख्यानों से [illegible]कर छापे हैं। यु. मी.

श्री पण्डित जी ने जिस योग्यता और परिश्रम से यह कार्य किया है तथा जिस गहराई से अपनी भूमिका में ऋषि दयानन्द के भावों को जनता के समक्ष रखने का यत्न किया है (खेद है कि यह विचारधारा अधूरी रह गई), यह उन्हीं का काम था। चाहे प्रकाशक उनके किन्हीं सम्पादकीय विचारों के साथ सहमत न भी हों, क्योंकि प्रत्येक सम्पादक अपने विचार रखने में स्वतन्त्र होता है, तथापि हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि पं० जी के हृदय में प्राचीन भारतीय संस्कृति सभ्यता साहित्य तथा प्राचीन मर्यादाओं की रक्षा के प्रति एक अग्नि सी धधक रही है, जिस पर कि भारत का बहुत सा भविष्य निर्भर है।

सं० १९२९ तक ऋषि का सारा पत्रव्यवहार तथा सम्भाषण संस्कृत में ही था। बहुत सा पत्रव्यवहार वह दूसरों को बोल कर लिखवाते वा लिखने को कह दिया करते थे और हस्ताक्षर कर देते थे, ऐसी अवस्था में निस्संदेह इन पत्रों की प्रामाणिकता ऋषिकृत सत्यार्थप्रकाशादि के समान नहीं हो सकती, तथापि इन से अनेक परमावश्यक गम्भीर विषयों तथा सिद्धान्तों पर प्रकाश अवश्य पड़ता है, जो अत्यन्त मूल्यवान् है।

यह भी विदित रहे कि श्री पं० जी इन बहुमूल्य पत्रों का संग्रह कर चुके थे और इसके प्रकाशन की चिन्ता में थे। युद्ध की परिस्थिति में कागज मिलना भी कठिन हो रहा था। ऐसी अवस्था में श्री पं० जी की इच्छा पर ट्रस्ट ने इस बहुमूल्य ग्रन्थ को अपनी ओर से प्रकाशित करने का निश्चय किया और श्री पं० जी ने यह ग्रन्थ ट्रस्ट को दे देने की महती कृपा की और उन्होंने ऋषि के पत्र व्यवहार के संग्रह करने में हुए, केवल मार्गव्यय वा पत्रव्यवहारादि का व्ययमात्र ही ट्रस्ट से लिया, उनकी इस सारी महती उदारता के लिये ट्रस्ट उनका अत्यन्त अनुगृहीत है।

श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने विषय-सूची तय्यार करके इस ग्रन्थ की उपयोगिता को और भी बढ़ा दिया है, जिसके लिये प्रकाशक उन के अनुगृहीत हैं।

इन से अतिरिक्त इस पवित्र कार्य में सहयोग देनेवाले सभी महानुभावों का धन्यवाद सम्पादक महोदय अपनी भूमिका में कर चुके हैं। ट्रस्ट की ओर से हम भी उन सब के ऋणी हैं।

इस प्रकार इस ग्रन्थ के प्रकाशित करने कराने में जो ट्रस्ट का लगभग ६०००) छः सहस्र रुपया व्यय हुआ है[1], इस में किसी भी अन्य व्यक्ति का किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं।

अन्त में आर्यजनता से हम यही निवेदन करेंगे कि वह ऋषि दयानन्द के भावों को गहराई से जानने के लिये इस ग्रन्थ से महान् लाभ उठा सकती है।

इस ग्रन्थ की इतनी मांग है कि सम्भव है हमें शीघ्र ही इसका दूसरा संस्करण भी छपाना पड़े।

निवेदक—
ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
प्रधान, रामलाल कपूर ट्रस्ट
गुरु बाजार, अमृतसर

---

१. यह व्यय का निर्देश प्रथम संस्करण का है। द्वितीय संस्करण पर लगभग ८००० आठ सहस्र रुपया व्यय हुआ था। तृतीय संस्करण पर लगभग ५०-५५ सहस्र रुपया व्यय हुआ था। इस व्यय में ऋषि के द्वारा लिखे पत्र और विज्ञापनों के अतिरिक्त विविध व्यक्तियों द्वारा ऋषि दयानन्द को भेजे गये पत्र, जो तीसरे और चौथे भाग में छपे, का व्यय सम्मिलित है। यु० मी०

द्वितीय संस्करण की विशेषता

ऋषि दयानन्द सरस्वती के ५०० पत्र और विज्ञापनों का बृहत् संग्रह श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (लाहौर) ने सन् १९४५ के अन्त में प्रकाशित किया था। उसकी लगभग २०० प्रतियां ही बाहर निकल सकीं (५० भेंट में दी गईं, १५० बिकीं), शेष ८०० प्रतियां १३ अगस्त सन् १९४७ को (देश-विभाजन काल में) लाहौर (पैसा अखबार गली) में ट्रस्ट की पुस्तकों के समस्त संग्रह (स्टाक) के साथ भस्मसात् कर दी गईं।

इस अग्निकाण्ड से ट्रस्ट की लगभग १५००० पन्द्रह सहस्र रुपयों की हानि हुई। ऐसी अवस्था में इस प्रकार के बृहद् ग्रन्थों का पुनः प्रकाशन करना प्रायः असम्भव सा ही था, परन्तु ट्रस्ट के अधिकारियों के अदम्य उत्साह के कारण उसके प्रकाशनों को पुनः प्रकाशित करने की व्यवस्था की गई। छोटी-मोटी ८, १० पुस्तकों के प्रकाशन के अनन्तर ही इस महान् ग्रन्थ के पुनः प्रकाशन का विचार किया गया।

इस बार द्वितीय संस्करण को प्रथम संस्करण की अपेक्षा सुन्दर और श्रेष्ठ बनाने के लिए पर्याप्त श्रम किया गया। परन्तु मेरी लगभग डेढ़ वर्ष से सतत रहनेवाली अस्वस्थता के कारण इस में कुछ विघ्न होना स्वाभाविक था। इतना होने पर भी यह संस्करण पूर्वापेक्षया पर्याप्त सुन्दर और श्रेष्ठ बना है। इस संस्करण में ३४४ पत्र, विज्ञापन, पत्रांश, पत्रसारांश, विज्ञापनांश तथा पत्र, विज्ञापन और पारसल आदि की सूचनाएं नवीन संगृहीत की गईं। इस प्रकार इस संस्करण में पूर्व संस्करण की पूर्ण संख्या ५०० से बढ़ कर ८४४ हो गई। इसी से इस संस्करण पर किये गये परिश्रम और इसकी उपयोगिता तथा श्रेष्ठता का अनुमान सहज में लगाया जा सकता है।

अनुसन्धान की भारी आवश्यकता

इस पत्र और विज्ञापन संग्रह में दो स्थानों पर लेखक द्वारा दी गई क्रमिक पत्र संख्या का क्रम (सिलसिला) मिलता है*। उसके

---

* प्रथम—पृष्ठ ९५ में (पूर्णसंख्या ८५)[1] ता० २५।७।१८७८ को जो

---

१. द्र०—प्रस्तुत संस्करण में पृष्ठ २१३ (पूर्णसंख्या १७३)।

अनुसार प्रथम क्रम (सिलसिले) में ६ मास और ६ दिन में ७६२ पत्र ऋषि ने लिखे थे। द्वितीय क्रम (सिलसिले) में ३ मास में २०६ पत्र ऋषि ने लिखे। इन नौ मास और नौ दिन में लिखे गये (७६२+२०६=९६८) पत्रों में से इस पत्र-व्यवहार में केवल (५५+३५=९०) पत्र छपे हैं, अर्थात् ९६८ में से हमें अभी तक केवल ९० पत्र मिले हैं, ९०८ उपलब्ध नहीं हुए।

ऋषि दयानन्द का नियमपूर्वक पत्रव्यवहार सं० १९३० के अन्त से प्रारम्भ होता है और वह आश्विन बदी ३० सं० १९४० तक चलता रहा। जब ऋषि दयानन्द ने केवल ९॥ मास में ९६८ पत्र निश्चित रूप से लिखे, तब लगभग ९ वर्षों में ऋषि ने कितने सहस्र पत्र लिखे होंगे, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता

पत्र ऋषि दयानन्द ने लिखा, उस पर क्रमिक पत्रसंख्या बांई ओर २१६ पड़ी है। यह क्रमिकसंख्या २१६ से प्रारम्भ होकर पृष्ठ १३० में (पूर्णसंख्या १४३)[१] ता० २।२।१८७९ के पत्र पर पड़ी १००७ संख्या तक चलती है। इस प्रकार इन ६ मास और ६ दिनों में ७६२ पत्र लिखे गये। उनमें से केवल ५५ पत्र उपलब्ध हुए, जो इस संग्रह में छपे हैं, ७३७ पत्र उपलब्ध नहीं हुए।

द्वितीय—पृष्ठ २६० में (पूर्णसंख्या ३०७)[२] ता० ८।१२।१८८० के पत्र पर क्रमिक पत्रसंख्या १० उपलब्ध होती है। पृष्ठ २६८ (पूर्णसंख्या ३२२)[३] ता० २१।१।१८८१ के पत्र पर पुनः १० संख्या है, जो कि निश्चय ही १०० के स्थान में भूल से १० हो गयी है (यही भूल क्रमिकसंख्या में आगे बराबर चली गयी है)। पृष्ठ २८१ में (पूर्णसंख्या ३४१)[४] ता० ७।३।१८८१ के पत्र पर क्रमिकसंख्या ११५ पड़ी है, उसे २१५ समझना चाहिये। इस प्रकार तीन मास में २०६ पत्र लिखे गये, उनमें से केवल ३५ प्राप्त हुए हैं और १७१ प्राप्त नहीं हुए।

---

१. द्र०—प्रस्तुत संस्करण में पृ० ३२५ (पूर्णसंख्या २८६)।

२. द्र०—प्रस्तुत संस्करण में पृ० ५६३ (पूर्णसंख्या ५०८)। यहां प्रूफ-संशोधक के प्रमाद से 'नं० १०' छपना छूट गया। पाठक पूर्णसंख्या ५०८ के नीचे 'नं० १०' बनालें।

३. द्र०—प्रस्तुत संस्करण में पृ० ५७७ (पूर्णसंख्या ५३५)।

४. द्र०—प्रस्तुत संस्करण में पृ० ५९७ (पूर्णसंख्या ५६१)।

है। इसी प्रकार ऋषि दयानन्द ने इस सुदीर्घ काल में सैकड़ों विज्ञापन प्रकाशित किये होंगे, परन्तु उनमें से विज्ञापन, विज्ञापनांश तथा विज्ञापनसूचना आदि सब मिलाकर केवल ४६ ही प्राप्त हुए। **इन उपलब्ध पत्र और विज्ञापनों से ऋषि के उन अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों, उनके दिव्य चरित और व्यक्तित्व का बोध होता है, जिन पर अन्य किसी भी दिशा से कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता।** यदि कहीं ऋषि के ये सम्पूर्ण पत्र और विज्ञापन उपलब्ध हो जाते, तो न जाने कितना दिव्य प्रकाश ऋषि के उदात्त कार्यों तथा उनके चरित और व्यक्तित्व पर पड़ता। इसके लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं।

अभी भी समय है यदि ऋषि के इन पत्रों और विज्ञापनों के अनुसन्धान के लिये आर्यसमाजें प्रतिनिधि-सभायें, सार्वदेशिक-सभा तथा श्रीमती परोपकारिणी-सभा कुछ कार्य करे तो पुराने आर्यों के घरों से अभी भी शतशः पत्र उपलब्ध हो सकते हैं।

इस संस्करण में मैंने बहुत सी नई टिप्पणियां जोड़ी हैं, उनके आगे मैंने अपने नाम का संकेत कर दिया है तथा जहां पूर्वलिखित टिप्पणियों में कुछ अंश बढ़ाया है उसे [ ] कोष्ठ के अन्दर रखा है।[1]

आशा है, पाठकों को ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापनों के संग्रह का यह नूतन परिबृंहित और अनेकविध नई टिप्पणियों से समलंकृत संस्करण अधिक रुचिकर तथा लाभप्रद होगा। ऐसे विशालकाय ग्रन्थ का इतना परिबृंहित संस्करण प्रकाशित करने और वह भी ऐसे महार्घ (मंहगाई के) काल में जब कि जनता की स्वाध्याय की रुचि तथा क्रयशक्ति दिन प्रति-दिन क्षीण होती जा रही है, अत्यन्त साहस का कार्य है। अतः इस साहसपूर्ण तथा महोपयोगी कार्य के लिये श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के समस्त अधिकारी आर्य जगत् के धन्यवाद के पात्र हैं।

कृतज्ञता-प्रकाशन

श्री महाशय मामराज जी समय-समय पर अपने पत्रों द्वारा

---

१. प्रस्तुत संस्करण में अपने नाम का संकेत और [.] कोष्ठक हटा दिये हैं। हां, एक-दो स्थानों पर, जहां मूल सम्पादक की टिप्पणी से कुछ मतभेद था, वहां अपने नाम का संकेत कर दिया है।

अनेक उपयोगी सुझाव देते रहे और इस कार्य को यथासम्भव सर्वाङ्गपूर्ण बनाने के लिये सर्वदा उत्साहित करते रहे। इतना ही नहीं, इस ग्रन्थ के मुद्रण के प्रारम्भ तथा अन्त में दो बार रायपुर (मध्यप्रदेश) से अपने व्यय से काशी आकर अनेकविध परामर्श दिये। यदि आप का इतना सहयोग न होता तो मैं इस काल में सतत रुग्ण रहते हुए इतना कार्य कदापि नहीं कर सकता था। अतः मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

मेरे मित्र राजस्थानीय इतिहास के विशेषज्ञ **श्री ठा० जगदीश सिंह जी गहलोत** जोधपुर निवासी ने ऋषि के पत्रों में निर्दिष्ट राजस्थान के अनेक व्यक्तियों का संक्षिप्त परिचय लिखकर भेजा था। उसे परिशिष्ट में लगाने का संकल्प था, परन्तु ग्रन्थ के आकार के बहुत बढ़ जाने के कारण अनेक परिशिष्टों के साथ उसे भी इस संस्करण में नहीं छपा सके, इसका हमें खेद है।[1]

कोटा (राजस्थान) निवासी श्री माननीय **राजबहादुरसिंह जी** भूतपूर्व शिक्षा इंस्पेक्टर ने मेरी प्रार्थना पर श्री पं० चमूपति जी द्वारा प्रकाशित ऋषि के पत्रव्यवहार को **'श्री ठाकुर किशोरसिंह जी'**[2] पटियालावालों के संग्रह से पुनः मिलाकर तथा शोधकर भेजा। उनके इस महान् परिश्रम के लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं।

मोतीझील, काशी
फा० शु० ११ सं० २०११

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

---

१. इसे अन्य अनेक परिशिष्टों के साथ कुछ मास पश्चात् पृथक् रूप से छापा था।

२. श्री ठा० किशोरसिंह जी के इस संग्रह के विषय में श्री माननीय राजबहादुरसिंह जी ने ता० ११।११।५४ के पत्र में इस प्रकार लिखा है—

"किशोरसिंह जी पटियाला वालों की पुत्री ठिकाना कोठारी (कोटा-राज्य) के कविराज दुर्गादास जी के छोटे भाई को ब्याही है। ठा० किशोर सिंह जी ने मरते समय बहुतसी पुस्तकें और यह पत्रव्यवहार, जिसे उन्होंने तरतीब देकर रक्खा था, अपने दामाद को सुरक्षित रखने को दे दिया था। वह इस समय जागीर कोठारी, जो कोटा शहर से लगी हुई है, के पुस्तकालय में सुरक्षित है।"

परिवर्धित परिष्कृत तृतीय संस्करण

किसी भी महापुरुष के व्यक्तित्व और कार्य का यथार्थ परिज्ञान उन के ग्रन्थों, पत्रों, उस समय के समाचार-पत्रों में मुद्रित व्याख्यानों वा कार्यों के विवरण तथा जीवन-चरितों से होता है।

इस सम्पूर्ण सामग्री को हम दो भागों में बांट सकते हैं। **प्रथम भाग में** महापुरुष द्वारा लिखे गये ग्रन्थों और पत्रों को रखा जा सकता है **और द्वितीय भाग में** सामयिक पत्रों में छपे व्याख्यानादि के विवरणों तथा जीवन-चरितों को रख सकते हैं। इन में प्रथम विभागस्थ ग्रन्थ और पत्र लेखक के द्वारा स्वयं लिखित होते हैं और द्वितीय भागस्थ सामयिक पत्रों में छपे व्याख्यानादि के विवरण संवाददाताओं द्वारा संगृहीत होते हैं। जीवन-चरितों के लेखन में इन सामयिक पत्रों में छपे विवरण प्रमुख साधन होते हैं। इसके साथ ही चरितनायक के सम्पर्क में आये लोगों के द्वारा किये गये वर्णनों का भी जीवन-चरित के लेखक को सहारा लेना पड़ता है। इस दृष्टि से महापुरुषों के जीवन-चरित उनके कार्य-कलापों के जानने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए भी प्रामाण्य की दृष्टि से तत्कालीन समाचारपत्रों में छपे विवरणों की अपेक्षा भी द्वितीय कोटि में आते हैं। इसका कारण यह है कि महापुरुषों के सम्पर्क में आये व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत विवरण उन की स्मृति पर आधृत होता है। अतः वह किसी अंश में अयथार्थ भी हो सकता है।

ग्रन्थों और पत्रों में भेद—किसी भी व्यक्ति के द्वारा लिखे गये ग्रन्थों और पत्रों में भी एक मौलिक भेद रहता है। ग्रन्थ लिखते समय व्यक्ति के सामने वह जनसमुदाय होता है, जिसे वह अपने ग्रन्थ के विषयों का परिज्ञान कराना चाहता है। उस जनसमुदाय में अनुकूल और प्रतिकूल दोनों विचारधारा के लोग होते हैं। प्रतिकूल विचारवाले व्यक्ति ग्रन्थ में दोषदर्शन न कर पावें, इसलिये लेखक सावधान होकर लिखता है। परन्तु पत्र लिखते समय उसके सम्मुख वह विशेष व्यक्ति ही होता है, जिसे वह पत्र लिख रहा होता है। अतः पत्र लिखते समय अपने हृद्गत भावों को बिना विशेष यत्न के ऋजुभाव से ही वह प्रकट करता है। अतः पत्रों में

ग्रन्थों की अपेक्षा लेखक के भाव अधिक उन्मुक्त होते हैं। इसलिये यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व, कृतित्व और विचारों को जानने का उसके द्वारा लिखे गये ग्रन्थों की अपेक्षा उसके द्वारा लिखे गये पत्र अधिक महत्त्वपूर्ण साधन होते हैं।

ऋषि दयानन्द के पत्रों से अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यों पर प्रकाश पड़ता है, जिनका उनके ग्रन्थों में संकेत भी नहीं मिलता है। हम यहां केवल तीन प्रसङ्गों को उद्धृत करते हैं—

१—ऋषि दयानन्द ३० नवम्बर १८८० (पूर्णसंख्या ३८४, पृ० ४५०)[१] के पत्र में लाला मूलराज एम. ए. को लिखते हैं—

यह अब स्पष्ट है कि बहुत से पढ़े-लिखे लोगों को भी नौकरी नहीं मिलती या वे जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था देखकर मैं एक कला-कौशल के स्कूल की आवश्यकता विचारता हूं। प्रत्येक पुरुष को अपनी आय का १०० वां भाग प्रस्तावित संस्था को देना चाहिये। उस धन से चाहें तो विद्यार्थी कला-कौशल सीखने जर्मनी भेजे जावें या वहां से अध्यापक यहां बुलाये जायें।

इस पत्र से ऋषि की दीर्घ दृष्टि का प्रत्यक्ष परिज्ञान होता है। आज से १०० वर्ष पूर्व पढ़े-लिखे लोगों की बेरोजगारी को भांपना और उस के निवारण के लिये कला-कौशल के विद्यालय को स्थापित करने की ओर ध्यान देना, एक ऐसा विषय है, जिस पर पत्रव्यवहार के अतिरिक्त कहीं से प्रकाश नहीं पड़ता। ऋषि दयानन्द केवल कला-कौशल के विद्यालय की आवश्यकता का ही अनुभव नहीं करते थे, अपितु उन्होंने इसके लिये जर्मनदेशस्थ लोगों से पत्र-व्यवहार भी किया था। देखिये—

क—मुझे कल जर्मनी से एक महाशय का पत्र आया है। उसने स्वीकार किया है कि वह हमारे देशीय लोगों को किसी भी विषय में शिक्षा देगा। द्र०—पूर्णसंख्या ३११, मूल अंग्रेजी अंश पृष्ठ ३७४ पं० २८-३०; भाषानुवाद, पृष्ठ ३७६, पं० २३-२४।[२]

---

१. प्रस्तुत संस्करण में पृ० ५६० (पूर्णसंख्या ५०३) देखें।

२. प्रस्तुत संस्करण में अंग्रेजी अंश पृ० ४७६ (पूर्णसंख्या ४३६), पं० ३३-३५ तथा भाषानुवाद पृ० ४८२, पं० ५-६ देखें।

ख—जो पत्र जर्मनी से आये हैं, वह आपके देखने के लिये आनन्दीलाल द्वारा भेज दिये हैं। कृपया हमें बताना क्या उत्तर दिया ? **मेरा विचार है कुछ पुरुष कला-कौशल सीखने के लिये जर्मनी भेज दिये जायें।** द्र०—पूर्णसंख्या ३२६, पृष्ठ ३७६।[1]

ग—श्याम जी कृष्ण वर्मा (लन्दन) को संस्कृत में लिखे गये पूर्णसंख्या ३५१, पृष्ठ ४१२,४१३[2] के संख्या ४-५ के श्लोक देखिये। उनका भाव है—

क्रिया-कुशल जर्मन लोगों के द्वारा हमारे पास भेजे गये अनेक पत्र यहां प्राप्त हो गये।·········अपने भारत देश के सुख के लिये इन विदेशियों से कला-कौशल सिखाने के उद्देश्य से इन (हम) लोगों को निरन्तर लिखा है। द्र०--भाषानुवाद, पृष्ठ ४१५,४१६।[3]

इस विषय का ऋषिदयानन्द के अनेक पत्रों में संकेत मिलता है। जर्मनी के किन-किन व्यक्तियों से ऋषि दयानन्द ने भारतीय जनों को कला-कौशल सिखाने के उद्देश्य से पत्र-व्यवहार किया था, यह ज्ञात नहीं हो सका। केवल एक व्यक्ति प्रो. जी. वाइज के नौ पत्र श्री मास्टर लक्ष्मण जी ने ऋषि के उर्दू जीवन-चरित में उर्दू में छापे हैं। उन्हें हम तीसरे भाग में दे रहे हैं।

२—ऋषि दयानन्द २३ मई १८८१ के पत्र में फर्रुखाबाद के सेठ निर्भयराम को लिखते हैं—

संस्कृत रूपी मातृभाषा की जगह अंग्रेजी लोगों की मातृभाषा हो चली है। अंग्रेजी का प्रचार तो जगह-जगह सम्राट् की ओर से, जिनकी यह मातृभाषा है, भले प्रकार हो रहा है। (यह पत्र दूसरे भाग में देखें)।

इस वाक्य से भी ऋषि की दीर्घ दृष्टि का श्रेष्ठ परिचय मिलता है। ऐसा लगता है कि जैसे ऋषिदयानन्द वर्तमानसमय की बात कह रहे हों। ऋषिदयानन्द अङ्गरेजी आदि विदेशी भाषाओं के परिज्ञान के विरुद्ध नहीं थे। देश काल की परिस्थिति के अनुरूप

---

१. प्रस्तुत संस्करण में पृ० ४८५ (पूर्णसंख्या ४४५) देखें।

२. प्रस्तुत संस्करण में पृ० ५२१ (पूर्णसंख्या ४७०) देखें।

३. प्रस्तुत सस्करण ० पृ० ५२४ पर देखें।

उसे आवश्यक भी समझते थे। परन्तु संस्कृत की अवहेलना करके अंग्रेजी के प्रचार के वे विरुद्ध थे। इसी दृष्टि से ऋषि दयानन्द ने वै० ब० सं० १९४० (२५ अप्रैल १८८३) को फर्रुखाबाद के लाला कालीचरण रामचरण को लिखे पत्र में लिखा है—

तुम्हारी पाठशाला में अलिफ बे और कैट बैट की झर्मार है, जो कि आर्यसमाजों का विशेष कर्तव्य नहीं है। (यह पत्र दूसरे भाग में देखें)।

ऋषि दयानन्द के अनेक ऐसे पत्र इस संग्रह में छपे हैं, जिनमें संस्कृत भाषा के प्रचार पर विशेष ध्यान देने के लिये और अंग्रेजी फारसी पर व्यर्थ धन नष्ट न करने के लिये ऋषिदयानन्द ने अपने अनुयायियों को लिखा है।

प्राय: आर्यसमाज के अधिकारी संस्कृत-भाषा पढ़ने-पढ़ाने की बात तो करते हैं। गुरुकुल और संस्कृत पाठशालायें भी अनेक चल रही हैं। परन्तु आर्यसमाजों और शिरोमणि-सभाओं के अधिकारी अपने बच्चों को संस्कृत नहीं पढ़ाते। दूसरे के कन्धे पर बन्दूक रख कर लड़ने के समान दूसरों के बच्चों को संस्कृत पढ़ाकर वेद का प्रचार करना चाहते हैं। ऋषि दयानन्द चाहते थे कि आर्यसमाज का प्रत्येक सदस्य संस्कृत पढ़े, समाजों और शिरोमणि-सभाओं के सदस्यों को तो संस्कृत का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। इस दृष्टि से ऋषि दयानन्द वै० शु० १४ सं० १९३८ (१२ मई १८८१) के पत्र में लाला कालीचरण रामचरण से पूछते हैं—

इस [संस्कृत पाठशाला] में केवल लड़के ही पढ़ते हैं अथवा हमारे रईस लोगों में से भी कोई पढ़ता है? (यह पत्र दूसरे भाग में देखें)।

ऋषि दयानन्द केवल भारतीय जनों को ही संस्कृत पढ़ने की प्रेरणा नहीं देते थे, अपितु वे विदेशियों को भी संस्कृत पढ़ने के लिये प्रेरित करते थे। इसी प्रसङ्ग में २६ मार्च १८७९ को लिखा ऋषि दयानन्द का पत्र (पूर्णसंख्या १९४ पृष्ठ २५०)[1] देखिये। वे प्रबन्धकर्ता वेदभाष्य कार्यालय (बम्बई) से पूछते हैं—

---

१. प्रस्तुत संस्करण में पृ० ३३२ (पूर्णसंख्या २२५) देखें।

उन्होंने (अमेरिकावासी कर्नल आल्काट आदि ने) संस्कृत पढ़ने का आरम्भ किया वा नहीं ?

३—आर्य भाषा (हिन्दी) के प्रचार प्रसार में ऋषि दयानन्द ने कितना प्रयत्न किया था, इसे आर्यसमाज के सभासद और अधिकारी भी भले प्रकार नहीं जानते। वे केवल इतना ही जानते हैं कि ऋषि दयानन्द ने मातृभाषा गुजराती और संस्कृत के पण्डित होते हुए भी अपने प्रायः सभी ग्रन्थ आर्यभाषा में लिखे और उसी में उपदेश करते थे ।

सन् १८८२ में अंग्रेज सरकार ने डा० हंटर की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया था। इस का उद्देश्य राजकार्य में, जो उस समय प्रधानतया उर्दू फारसी तथा अंग्रेजी भाषा में चल रहा था, के साथ आर्यभाषा (हिन्दी) को प्रवृत्त करना था। ऋषि दयानन्द इस उपयुक्त अवसर को हाथ से जाने देना नहीं चाहते थे। इसलिये उन्होंने राजकार्य में आर्यभाषा (हिन्दी) की प्रवृत्ति के लिये जो महान् प्रयत्न किया, उस पर ऋषि दयानन्द के इस पत्र-व्यवहार से ही प्रकाश पड़ता है, अन्य किसी स्रोत से प्रकाश नहीं पड़ता।

क—ऋषि दयानन्द १४ अगस्त १८८२ को कालीचरण रामचरण को लिखे गये पत्र में लिखते हैं—

इस समय (आर्यभाषा के) राजकार्य में प्रवृत्त होने के अर्थ जो मेमोरियल छपे हैं, सो शीघ्र भेजना। आप लोग जहां तक हो सके ······आर्यभाषा के राजकार्य में प्रवृत्त होने के अर्थ प्रयत्न कीजिये। (यह पत्र दूसरे भाग में देखें) ।

ख—शुद्ध श्रावण शु० ३ सं० १९३९ (१७ अगस्त १८८२) को बाबू दुर्गाप्रसाद को लिखे गये पत्र में ऋषि दयानन्द लिखते हैं—

दूसरी अतिशोक करने की बात यह है कि **आजकल सर्वत्र अपनी आर्यभाषा के राजकार्य में प्रवृत्त होने के अर्थ** (भाषा के प्रचारार्थ जो कमीशन हुआ है) **उसका पंजाब हाथा आदि से मेमोरियल भेजे गये हैं। परन्तु मध्यप्रान्त**[1] **फर्रुखाबाद, कानपुर,**

---

१. पश्चिम में गङ्गा से लेकर पूर्व में वाराणसी तक का प्रदेश ।

बनारस आदि स्थानों से नहीं भेजे गये और गत दिवस नैनीताल की सभा की ओर से इस विषय में एक पत्र आया है। उसके अवलोकन से निश्चय हुआ कि पश्चिमोत्तर देश[1] से मेमोरियल नहीं भेजे गये और हम को लिखा है कि आप इस विषय में प्रयत्न कीजिये। अब कहिये हम अकेले सर्वत्र कैसे घूम सकते हैं? जो यही एक काम हो तो चिन्ता नहीं। इसलिये आप को उचित है **मध्यदेश[2] में सर्वत्र पत्र भेजकर बनारस आदि स्थानों से और जहां-जहां परिचय हो सब नगर वा ग्रामों से मेमोरियल भिजवाइये। यह काम एक के करने का नहीं है। और अवसर चूके [तो] वह अवसर आना दुर्लभ है।** जो यह कार्य सिद्ध हुआ तो आशा है कि मुख्य सुधार की नींव पड़ जायेगी ....। (यह पत्र दूसरे भाग में देखें।)

ऋषि दयानन्द के आर्यभाषा के राजकार्य में प्रवृत्ति कराने के इस अभियान का यह फल हुआ कि अकेले उत्तरप्रदेश से आर्य भाषा की राज्य कार्य में प्रवृत्ति हेतु २०० से ऊपर मैमोरियल हंटर कमीशन की सेवा में भेजे गये। हमें केवल मेरठ और कानपुर से भेजे गये दो मैमोरियल प्राप्त हुए हैं। इन दोनों में आर्यभाषा की उत्कृष्टता और उर्दू फारसी की न्यूनताओं को बड़े सशक्तरूप से उजागर किया है। ये दोनों मैमोरियल द्वितीय भाग के परिशिष्ट ४ (प्रस्तुत सं० में ३) में देखिये।

उत्तरवर्ती आर्यजनों के द्वारा हिन्दी भाषा के प्रति जो उपेक्षा बरती गई, उस का जो परिणाम हुआ, उसका निर्देश भी इस प्रसंग में कर देना हम उचित समझते हैं।

१—हिन्दी साहित्य के जो भी इतिहास लिखे गये, उन में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि के विषय में पर्याप्त लिखा गया, परन्तु ऋषि दयानन्द के विषय में प्रायः ५-७ पंक्तियां ही लिखी गईं।

२—नागरी प्रचारिणी सभा (वाराणसी) की ओर से केन्द्रीय शासन की सहायता से जो कुछ वर्ष पूर्व हिन्दी का विश्वकोष कई भागों में निकला है, उस में हिन्दी भाषा की सेवा के रूप में स्वामी

---

१. वर्तमान उत्तरप्रदेश। २. पृ० १३, टिप्पणी १ में निर्दिष्ट देश।

दयानन्द का कहीं उल्लेख नहीं है। केवल पं० बालकृष्ण भट्ट के प्रसंग में इनके दयानन्द की विचार धारा से प्रभावित होने का उल्लेख मिलता है।

जिस नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से यह विश्वकोष छपा है, उस के आद्य प्रतिष्ठापक तीनों व्यक्ति ऋषि दयानन्द के अनुयायी थे।

ये दो-तीन विषय हमने निदर्शनार्थ उपस्थित किये हैं। ऐसे अनेक प्रसंग ऋषि के पत्रों से विदित होते हैं, जिन पर किसी अन्य स्रोत से कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। इस विषय में श्री पं० भगवद्दत्त जी द्वारा लिखित भूमिका द्रष्टव्य है।

पत्र और विज्ञापनों की प्रामाणिकता

आर्यसमाज के कतिपय विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्त जी और श्री मामराज जी द्वारा संगृहीत पत्रों और विज्ञापनों की प्रामाणिकता के विषय में आर्यजनता में मिथ्या भ्रान्ति उत्पन्न करते रहते हैं। यह कार्य वे ही पंडित करते हैं जो ऋषि दयानन्द को अपने पीछे चलाना चाहते हैं। अर्थात् ऋषि दयानन्द के सम्पूर्ण वाङ्मय को बिना पढ़े पहले अपनी कोई धारणा बना लेते हैं और उसी के अनुसार ऋषि दयानन्द के वचनों की व्याख्या करते हैं। दूसरे शब्दों में बैल वा अश्व के पीछे गाड़ी वा तांगा न जोत कर बैल वा अश्व के आगे गाड़ी वा तांगा जोतते हैं। यदि स्पष्ट शब्दों में यह कहा जाये कि ये अपने को दयानन्द से अधिक महत्त्व देते हैं, तो अत्युक्ति न होगी।

कृत्रिम पत्र—यह सत्य है कि कुछ सिरफिरे वा मनचले लोगों ने ऋषि दयानन्द के नाम से कुछ जाली पत्र बनाकर समाचार पत्रों में छपवाये थे।[1] परन्तु ऐसे कुत्सित प्रयत्न से ऋषि के सम्पूर्ण पत्र और विज्ञापन की प्रामाणिकता में सन्देह उत्पन्न करना दयानन्द के साथ खुला विद्रोह करना है[2] और वह भी उस अवस्था

---

१. द्र०—आगे प्रकाशित पं० भगवद्दत्त जी द्वारा लिखित भूमिका तथा वेदवाणी वर्ष ३२ अङ्क ८(जून १९८०) में सम्पादकीय लेख, पृ० २०-२२।

२. ऐसा कुत्सित प्रयत्न ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में विशेषकर आदिम

में जब श्री पं० भगवद्दत्त जी ने प्रत्येक पत्र की मूलप्रति कहां किसके पास है, का टिप्पणी में सर्वत्र स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। १९४७ के देशविभाजन के समय श्री पं० भगवद्दत्त जी की पत्र-व्यवहार सम्बन्धी सम्पूर्ण सामग्री के नष्ट हो जाने, विभिन्न मूल पत्रधारक व्यक्तियों के दिवंगत हो जाने तथा जिन आर्यसमाजों के संग्रह में ऋषि दयानन्द के पत्र थे, उनके अधिकारियों के प्रमाद से ऋषि के पत्रों के चूहे वा दीमक द्वारा नष्ट हो जाने पर पत्र और विज्ञापनों के विषय में भ्रम फैलानेवालों के लिए जिस शब्द का भी प्रयोग किया जाय, वह कम है।

पत्रों के विषय में भ्रम फैलानेवालों के पाण्डित्य का एक नवीनतम उदाहरण हम उपस्थित करते हैं—

२७ जुलाई १९८० के 'सार्वदेशिक' पत्र के अङ्क में डा० भवानीलाल भारतीय का एक लेख छापते हुए साथ में श्री पं० वैद्यनाथ शास्त्री ने भवानीलाल भारतीय के लेख की आलोचना भी प्रकाशित की है। उसमें शास्त्री जी लिखते हैं—

'यदि पत्रव्यवहार की प्रामाणिकता है तो छपे पत्रव्यवहार का **पहला पत्र ही महर्षि के सिद्धान्तानुकूल सिद्ध कर दें।** उस में वाक्य इस प्रकार है—**सैका भृगुसंहितासीत् तत्र भूतभविष्यद्-वर्तमानज्ञानं भवति।** एक भृगुसंहिता थी जिससे भूत भविष्यद् वर्तमान का ज्ञान होता है।'

प्रतीत होता है, इन पङ्क्तियों को लिखते समय शास्त्री जी ने ऋषि दयानन्द के 'पत्र और विज्ञापन' संग्रह को उठा कर भी नहीं देखा। अन्यथा वे '**पहला पत्र**' शब्द का प्रयोग न करते। जिस प्रथम पत्र की ओर उनका संकेत है **वह पत्र है ही नहीं, विज्ञापन है।** क्या शास्त्री जी पत्र और विज्ञापन के भेद को नहीं जानते?

सत्यार्थप्रकाश में भी लेखक वा वा प्रकाशक की ओर से किया गया था। फिर भी ऋषि दयानन्द ने उसे सर्वथा अप्रमाणित घोषित न करके सं० १९३९ तक उसको बेचते रहे और लोगों को भेंट में देते रहे। इसमें लेखकादि के द्वारा जो अंश प्रक्षिप्त किया था, केवल उसकी अप्रामाणिकता के विषय में विज्ञापन छापा था।

इतना ही नहीं, आपने जो पंक्ति उद्धृत की, वह भी अशुद्ध है। मूल पाठ है—**जोतिषम् १४ तत्र भूतभविष्यद्वर्तमानानां ज्ञानमस्ति। तत्रैका भृगुसंहिता सत्या वेदितव्या।**

यद्यपि मूल पाठ के और शास्त्री जी द्वारा उद्धृत पाठ के तात्पर्य में अन्तर नहीं है, तथापि शास्त्री जी द्वारा लिखित पंक्ति यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि लेख लिखते समय उन्होंने पत्र और विज्ञापन को उठाकर नहीं देखा था। अन्यथा विज्ञापन को न पत्र लिखते और ना ही मूलपाठ से भिन्न पाठ का निर्देश करते। यह तो हुआ इनका प्रमाद वा आलस्य।

अब हम ऋषि दयानन्द के ही ग्रन्थ से यह दर्शाते हैं कि ऋषि दयानन्द की इस पंक्ति का क्या तात्पर्य है, अथवा उन्होंने क्या समझ कर यह पंक्ति लिखी थी।

शास्त्री जी इस पंक्ति में निर्दिष्ट भृगुसंहिता को वर्तमान में प्रसिद्ध फलित (जन्मफलनिर्देश करनेवाली) भृगुसंहिता समझ बैठे हैं। यदि उन्होंने ऋषि दयानन्द के आदिम (सन् १८७५ के) सत्यार्थप्रकाश को सरसरी दृष्टि से भी देखा होता तो उन्हें ऋषि के तात्पर्य का ज्ञान हो सकता था। परन्तु इन लोगों के लिए तो वह आदिम सत्यार्थप्रकाश अछूत अस्पृश्य तथा हेय है। ऐसी अवस्था में भला शास्त्री जी उसे क्योंकर पढ़ने का कष्ट करते ?

आदिम सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—'ज्योतिषशास्त्र में जो फलविद्या है सो व्यर्थ ही है। **भृग्वादि मुनियों के लिये सूत्ररूप और भाष्यों को पढ़ें।** मुहूर्तचिन्तामण्यादिक जाल ग्रन्थों को कभी न पढ़ें।' पृष्ठ ८६

ऋषि दयानन्द के इस लेख से दो बातें सिद्ध होती हैं—(१) भृगुसंहिता में सूत्र (गद्य चाहे पद्य) थे। (२) उस में फलविद्या जिसे वे मिथ्या मानते थे, न थी। अतः जिस भृगुसंहिता को पढ़ने का ऋषि दयानन्द ने निर्देश किया है, वह फलविद्या का ग्रन्थ नहीं था।

ऋषि दयानन्द के आदिम सत्यार्थप्रकाश के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि आषाढ़ सं० १९२६ के कानपुर के उक्त विज्ञापन में

ऋषि दयानन्द ने जिस भृगुसंहिता को सत्य ग्रन्थ माना है, उसे वे उक्त विज्ञापन के ५-६ वर्ष पश्चात् भी प्रमाणभूत आर्ष पठनीय ग्रन्थ स्वीकार करते थे। वर्तमान में भृगुसंहिता के नाम से प्रसिद्ध फलादेश करनेवाला जो ग्रन्थ है, उसे जाल ग्रन्थ मानते थे।

सत्यार्थप्रकाश के उक्त उद्धरण के प्रकाश में उक्त विज्ञापन में भृगुसंहिता के विषय में जो कहा है—'उस में भूत भविष्यद् वर्तमान का ज्ञान है' वह गणित-विद्या से सिद्ध होनेवाला ग्रहादि के परि-भ्रमण से उत्पद्यमान तिथि नक्षत्र सूर्य-चन्द्र-ग्रहण आदि विषयक अभिप्रेत हैं। यदि ऋषि ने **मनुष्याणां भूतभविष्यद्वर्तमानजन्मनां** प्रयोग किया होता तो उसे त्याज्य कहा जा सकता था। इस से स्पष्ट है कि विज्ञापन में निर्दिष्ट भृगुसंहिता से ऋषि दयानन्द का अभिप्राय फलादेश-विधायिका तथाकथित भृगुसंहिता से नहीं है।

हम प्रसंगवश पाठकों का ध्यान एक और बात की ओर भी आकृष्ट करना चाहते हैं। पं० वैद्यनाथ जी से हम जानना चाहते हैं कि वे दयानन्द को किस तिथि मास संवत् से ऋषि अर्थात् प्रामाणिक पुरुष मानते हैं? हम जानते हैं कि शास्त्री जी इस काल को ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के लेखन-काल भाद्र शुक्ल प्रतिपद् सं० १९३३ के पश्चात् नहीं ले जा सकते, अन्यथा उन्हें ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका को भी अप्रमाण घोषित करना पड़ेगा।

अब हम एक ऐसा प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिससे स्पष्ट होगा कि ऋषि दयानन्द सं० १९२६ में प्रकाशित कानपुर के विज्ञा-पन को ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के प्रणयनारम्भ काल से दो वर्ष पश्चात् भी यथावत् सत्य मानते थे। अगस्त सन् १८७८ में रुड़की में शास्त्रार्थ के लिए मौलवी मुहम्मद कासिम के साथ विस्तृत पत्र-व्यवहार हुआ था। श्री पं० लेखराम जी ने ऋषि दयानन्द के जीवन-चरित में दोनों ओर के पत्रों का यथावत् संग्रह किया है। उस में ऋ० द० का १५ अगस्त १८७८ का जो विस्तृत पत्र है, उस में ऋषि दयानन्द लिखते हैं—

'श्रीमान् जी मैंने उस (कानपुर के) शास्त्रार्थ में पवित्र वेद के २१ विभिन्न व्याख्याओं की सत्यता स्वीकार की थी **और अब भी उनके ठीक होने का स्वीकार करता हूं**। पं० लेखराम कृत जीवन

चरित हिन्दी सं० पृष्ठ ७८० तथा पत्रव्यवहार का वर्तमान संस्करण, पृष्ठ १९७, पं० २३—२५ ।[1]

शास्त्री जी यतः जीवन-चरित को भी अप्रामाणिक और हेय मानते हैं अतः उन्होंने पं लेखराम कृत जीवन-चरित का हिन्दी संस्करण छप जाने पर भी उसे नहीं पढ़ा होगा। अन्यथा कुछ सोच-समझ कर लिखते ।

अब पाठक स्वयं विचार करें कि पं० वैद्यनाथ जी जिस प्रसंग को उपस्थित करके पत्र-विज्ञापन के अप्रामाण्य की घोषणा करते हैं, वह कहां तक ठीक है ? **विद्यादम्भः क्षणस्थायी**—संसार में धन यौवन पुत्र-कलत्र आदि का दम्भ तो कुछ समय चल सकता है, परन्तु विद्या का दम्भ मुंह खोलते ही अथवा लेखनी चलाते ही सामने आ जाता है ।

पत्र और विज्ञापन का नया संस्करण

श्री पं. लेखराम जी कृत महर्षि के जीवन-चरित का हिन्दी संस्करण प्रकाशित होने पर जब मैंने उसे पढ़ा तो मुझे ज्ञात हुआ कि इस जीवन-चरित में ऋषि दयानन्द के बहुत से ऐसे पत्र-पत्रांश और विज्ञापन-विज्ञापनांश विद्यमान हैं, जिनको श्री पं० भगवद्दत्त जी ने अपने संस्करण में संगृहीत नहीं किया। इधर कुछ वर्षों में कतिपय नये पत्र और विज्ञापन भी उपलब्ध हुए हैं। अतः उन सब को संगृहीत करके इसका नवीनसंस्करण प्रकाशित करने की इच्छा उत्पन्न हुई। वर्तमान मंहगाई के समय में इस कार्य पर भारी व्यय करना ट्रस्ट के बलबूते से बाहर की बात है, यह जानते हुए भी मैंने इसे प्रकाशित करने का सङ्कल्प कर लिया। इसका एक प्रधान कारण यह था कि पूर्व प्रकाशित दोनों संस्करणों में मैं सहयोग दे चुका था। अतः मुझे इस कार्य का जितना अनुभव है, उतना अन्य का होना कठिन है। मुझे उन सभी स्थलों का भी ज्ञान है, जहां से और जिस प्रकार सामग्री एकत्रित की जा सकती है। अतः अस्वस्थ रहते हुए भी मैंने इस दुष्कर काम को हाथ में ले लिया।

ऋषि दयानन्द को लिखे गये पत्रों का संग्रह

ऋषि दयानन्द को लिखे गए पत्र, जिन्हें श्री स्वामी श्रद्धानन्द

---

१. प्रस्तुत संस्करण में पृष्ठ २६०, पं० १०-१२ देखें ।

जी और श्री पं० चमूपति जी ने छापा था, उनकी प्रेसकापी भी मैंने सन् १९५५ में बना ली थी। परन्तु छपवाने का कोई प्रबन्ध न हो सका। इस संग्रह में भी सन् १९५५ के पश्चात् बहुत से नये पत्र-पत्रांश संगृहीत हो चुके थे। अतः इस वार ऋषि दयानन्द के द्वारा लिखे गए पत्र और विज्ञापनों के साथ ऋषि दयानन्द को लिखे गए पत्रों को भी छापने की योजना बनाई। इसका प्रमुख कारण यह है कि दोनों ओर के पत्रों में एक-दूसरे के पत्र मिलने की सूचना मिलती है। अतः तुलनात्मक अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि ऋषि दयानन्द को भेजे गए पत्र भी छापे जायें।

ऋषि दयानन्द को भेजे गए ४००-५०० पत्रों का विशाल संग्रह भी श्री मामराज जी ने किया था और उसे उन्होंने श्री पं० भगवद्दत्तजी को सौंप दिया था। यह विशाल संग्रह १९४७ के देश विभाजन के समय लाहौर में नष्ट हो गया। अतः विशिष्ट उपलब्ध पत्र भी कहीं नष्ट न हो जावें, इस दृष्टि से भी मैंने उनको प्रकाशित करना आवश्यक समझा।

प्रस्तुत संस्करण की विशेषता

१—इस संस्करण में पूर्व मुद्रित पत्र विज्ञापन और परिशिष्ट तो सभी संगृहीत हैं ही, अनेक नये पत्र, पत्रांश, विज्ञापन, विज्ञापनांशों का संग्रह इस संस्करण में प्रथम वार किया गया है। इस वार ऋषि दयानन्द के द्वारा संस्कृत में लिखे गए पत्रों का भाषानुवाद भी दिया गया है (आरम्भ के १ विज्ञापन तथा एक पत्र का भाषानुवाद नहीं दे पाए, क्योंकि इस बात का ध्यान कुछ पृष्ठ छप जाने के पश्चात् आया। इनका भाषानुवाद भी अन्त में प्रथम परिशिष्ट में दिया जाएगा)।[1]

२—इस संस्करण की एक विशेषता यह भी है कि ऋषि दयानन्द ने किसी व्यक्ति को लिखे गये पत्र में लिखा है कि '**आप का पत्र आया**' और वह यदि हमें प्राप्त हो गया है, तो हमने नीचे टिप्पणी में संकेत कर दिया कि 'यह पत्र तीसरे भाग में

---

१. प्रस्तुत संस्करण में यह भाषानुवाद यथास्थान पृ० १३ तथा १८ (पूर्णसंख्या २२ तथा २५) पर दे दिया है।

देखें।' इसी प्रकार ऋषि दयानन्द को लिखे गए पत्रों में यदि यह निर्देश मिलता है कि '**आपका पत्र मिला**' और हमें यदि ऋषि दयानन्द का वह पत्र उपलब्ध हुआ है तो हमने नीचे टिप्पणी में लिख दिया कि 'ऋषि दयानन्द का यह पत्र अमुक पूर्णसंख्या पर देखें।'

३—यदि दोनों ओर के संकेतित पत्र हमें नहीं मिले हैं, परन्तु पत्र प्राप्ति की सूचना देनेवाले व्यक्ति ने पत्र में उल्लिखित किसी अंश का उल्लेख किया है, तो उसके आधार पर पत्रांश वा पत्राशय बना कर दोनों ओर के संग्रह में उसे उचित स्थानों पर जोड़ दिया है। इससे अनुपलब्ध पत्रों का कुछ अंश संगृहीत हो गया है। अनेक स्थानों पर पत्रसूचना ही संगृहीत कर दी है। इससे पत्रों का अनुसन्धान करनेवाले भावी व्यक्तियों को लाभ होगा।

इसका हम एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। हमने पत्र और विज्ञापन के द्वितीय संस्करण के प्रथम परिशिष्ट में संख्या ६१०, पृष्ठ ४८६ पर प० गोपालराव हरि देशमुख के नाम लिखे गए पत्र की सूचना छापी थी। उस का मूल था १३ दिसम्बर १८७७ को लिखे गए ऋषि दयानन्द के पत्र के आरम्भ में लिखे शब्द In continuation of my Yesterday's letter (अपने कलवाले पत्र के सिलसिले में ......)। इस नए संस्करण में द्वितीय संस्करण के परिशिष्ट में छपी उक्त पत्र-सूचना को तिथि-क्रम से यथोचित स्थान पर जोड़ दिया (द्र०—पूर्णसंख्या ६९, पृष्ठ १२४)। दैवयोग से इस पत्र-सूचना के छपने के पश्चात् हमें इस मूल अंग्रेजी पत्र की फोटो प्राप्त हो गई (उसे हम द्वितीय भाग के प्रथम परिशिष्ट में छापेंगे)। आशा है इस से पत्र-सूचना मात्र छापने का लाभ भी पाठकों की समझ में आ जाएगा।

४—प्रस्तुत संस्करण में ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन १८×२३ अठपेजी आकार के दो भागों में छाप रहे हैं और ऋषि दयानन्द को लिखे गए पत्र तीसरे भाग में छापे जा रहे हैं। संग्रह का आकार बदलने का प्रधान कारण यह है कि हम ऋ० द० के सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, १४ लघु ग्रन्थों का संग्रह, पूना-प्रवचन तथा ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ आदि के विविध

टिप्पणियों और अनेक प्रकार के परिशिष्टों से युक्त अभूतपूर्व संस्करण इसी आकार में छाप चुके है। ऋ० द० के सभी ग्रन्थ एक आकार में छपें, यह हमारी प्रधान इच्छा है।

५—**प्रस्तुत संग्रह में परिवृद्धि**—प्रस्तुत संस्करण पहले की अपेक्षा कितना परिवृद्ध हुआ है, इस का अनुमान आप इससे लगा सकते हैं कि प्रथम भाग में वि० सं० १९३७ (मार्च १८८१) तक के पत्र, पत्रांश, पत्र-सूचना, विज्ञापन, विज्ञापनांश आदि मिलाकर द्वितीय संस्करण की पूर्ण संख्या ४२८ (मूल ग्रन्थ में ३४७, परिशिष्ट में ८१) थी। प्रस्तुत संस्करण में यह संख्या बढ़कर ४४७ हो गई है। अर्थात् प्रथम भाग में १९ नये पत्र-विज्ञापन बढ़े हैं। इसी प्रकार अगले भाग में भी लगभग २५-३० नए पत्र-विज्ञापन आदि बढ़ेंगे।

नये पत्रों वा विज्ञापनों की उपलब्धि

हम पूर्व लिख चुके हैं कि पं० लेखराम जी द्वारा संकलित महर्षि के जीवन-चरित से अधिकांश नए पत्र और विज्ञापन उपलब्ध हुए हैं। दो-तीन नए पत्र श्रीमती परोपकारिणी सभा को प्राप्त हुए हैं, जिन्हें उन के परोपकारी पत्र में छापा गया है। एक जिस नये पत्र की उपलब्धि का निर्देश हमने ऊपर किया है, वह जेतपुर आर्यसमाज के प्रधान श्री अम्बालाल जी पटेल ने हमें भेजा है। श्री इन्दुलाल को यह पत्र लीमड़ी (सौराष्ट्र) निवासी श्री बलभद्रसिंह जी राणा से प्राप्त हुआ है। इनके दादा सरदार सिंह जी राणा महान् देशभक्त थे। उन्हें किसी कारणवश देश से बाहर जाना पड़ा। वहां उनका सम्पर्क प्रसिद्ध देशभक्त महान् स्वतन्त्रता-सेनानी श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा के साथ हुआ। श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा का पत्र-व्यवहार वा पुस्तकें श्री सरदारसिंह जी राणा के पास थीं। उन से डा० धीरेन्द्र वर्मा ने ऋषि दयानन्द के द्वारा श्याम जी कृष्ण वर्मा को लिखे गए २५-२६ पत्र प्राप्त किये (द्र०—आगे मुद्रयमाण श्री पं० भगवद्दत्त जी द्वारा लिखित भूमिका)। श्री बलभद्रसिंह जी के कनिष्ठ भ्राता के संग्रह से ऋषि दयानन्द के कुछ पत्र और मिलने की आशा है। प्रयत्न चालू है। यहां से जो भी पत्र मिलेंगे, उन्हें हम दूसरे भाग में छापेंगे।

विचित्र संयोग—जब मैंने ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन के

द्वितीय संकरण का परिष्कार और परिवर्धन किया था, तब भी लगभग डेढ़ वर्ष सतत अस्वस्थ रहा था और इस बार भी पत्र-व्यवहार का कार्य हाथ में लेने के समय से लगभग सवा वर्ष पूर्व से अस्वस्थ था और अभी तक बराबर अस्वस्थ चला आ रहा हूं। दिन-प्रतिदिन स्वास्थ्य गिरता जा रहा है, फिर भी ऋषि-ऋण से उन्मुक्त होने के लिए अपनी पूरी शक्ति से संलग्न हूं। यदि कोई विशेष दैवी बाधा न हुई तो प्रभु के अनुग्रह से अगले वर्ष में शेष दोनों भाग भी छप जायेंगे।

एक दैवी बाधा—पत्र-विज्ञापन का मुद्रण आरम्भ होने के कुछ समय पश्चात् ही श्री पं० महेन्द्र शास्त्री जी, जो ट्रस्ट के प्रकाशनों का प्रूफ संशोधन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य बड़ी लगन वा परिश्रम से करते थे, वे भी बीमार हो गये और अभी तक अस्वस्थ हैं। इस कारण इस भाग के तीन चौथाई भाग से अधिक के प्रूफ वे न देख सकें। मेरे स्वयं देखने और अन्य व्यक्ति से प्रूफ दिखलाने पर भी कहीं-कहीं दृष्टि-दोष आदि के कारण अशुद्धियां रह गई हैं। बहुत सी अशुद्धियां तो छपते-छपते इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ की मात्राओं के टूटने के कारण हो जाती हैं। इसी प्रकार अक्षर के ऊपर का रेफ अनुस्वार और हल् के चिह्न भी बहुधा टूट जाते हैं। इन पर तो हमारा कोई वश नहीं चलता। सर्वथा शुद्ध छपाई के लिये बम्बईया टाईप ही उपयुक्त होता है, परन्तु वह जहां साधारण टाइप से तीन गुना मंहगा होता है, वहां उस का कम्पोज करनेवाले कम्पोजीटर भी नहीं मिलते। यदि मिल भी जावें, तो बम्बइया टाइप के कम्पोज म तिगुना समय लगने से छपाई का भार कई गुना अधिक बढ़ जाता है। अतः उस का उपयोग वे ही प्रकाशक कर सकते हैं, जो प्रकाशन व्यय की वृद्धि को सहन करने में समर्थ हैं। ग्राहक भी जो इस विशेषता को समझते हैं वे तो अधिक मूल्य भी देने को तैयार रहते हैं, परन्तु साधारण ग्राहक तो सस्ती से सस्ती पुस्तक चाहता है।

पत्र और विज्ञापन का प्रस्तुत संस्करण प्रतिभाग लगभग ६००-७०० पृष्ठों के तीन भागों में छपेगा। इस पर कागज, छपाई और जिल्द बंधवाई पर लगभग ५०-५५ हजार रुपया व्यय

होगा। इतना भारी व्यय ट्रस्ट उठा नहीं सकता। क्योंकि इस के द्वितीय संस्करण की १००० प्रतियां लगभग १३-१४ वर्ष में बिकी थीं। मंहगाई के कारण इस संस्करण के तीनों भागों का मूल्य एक सौ रुपये से कम नहीं रखा जा सकता। इतना मूल्य देनेवाले २०० व्यक्ति भी मिलने कठिन हैं। हमने प्रकाशन आरम्भ करते ही पूर्व ग्राहक बननेवालों को ६०) रु० में तीनों भाग देने की घोषणा करनी आरम्भ कर दी थी, परन्तु खेद है कि अब तक ६० रु० मात्र देनेवाले सज्जन भी २२ से अधिक नहीं मिले।

ऐसी विषम परिस्थिति में ऋषि-भक्त वैदिक धर्म प्रेमी आर्य सज्जनों से इस महत्त्वपूर्ण कार्य की पूर्ति के लिये मुझे सहायता की अपील करनी पड़ी। अभी तक जिन महानुभावों ने इस ऋषि-यज्ञ में अपनी दानाहुति दी है, उन सब का मैं धन्यवाद करता हूं और आशा करता हूं कि आगे भी इस महत्त्वपूर्ण यज्ञ की पूर्ति के लिये यथाशक्ति अपनी आहुति देकर हमें पूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे।

जिन महानुभावों ने १०० रुपये वा इससे अधिक की धन-राशि दान के रूप में दी है, उन के नाम धन्यवादपूर्वक हम इस भाग में प्रकाशित कर रहे हैं।

बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) युधिष्ठिर मीमांसक
श्री कृष्ण जन्माष्टमी, सं० २०३७ प्रधान—रामलाल कपूर, ट्रस्ट

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

तृतीय संस्करण में ऋषि दयानन्द सरस्वती को अन्य पुरुषों द्वारा भेजे गए पत्रों को भी दो भागों में छापा है। पत्रों का वास्तविक महत्त्व तभी ज्ञात होता है, जब दोनों ओर के पत्र इकट्ठे पढ़ने को मिलें।

उत्तरोत्तर वृद्धि—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापनों की उत्तरोत्तर संस्करण में वृद्धि हुई है। प्रथम संस्करण में ५०० पूर्णसंख्या थी। द्वितीय संस्करण में यह ८४४ हुई। तृतीय संस्करण में ८७२ हुई। इस चतुर्थ संस्करण में यह ९४५ हो गई। इस बार लगभग ७२ पत्र, पत्रांश, सूचना आदि बढ़े हैं। ४० के लगभग नये पत्र श्री पं० धर्मवीर जी एम० ए० को परोपकारिणी सभा के एक पुराने बस्ते से मिले। हमें भी ४ नये मूल पत्रों की फोटोस्टेट कापी तथा पं० लेखराम जी के जीवन-चरित से प्राप्त हुए।

श्री पं० भारतीय जी का सहयोग—इस बार श्री पं० भवानीलाल जी भारतीय ने हमें बहुत सहयोग दिया। जिन मूल अंग्रेजी पत्रों का मूलपाठ उपलब्ध न होने से हमने विगत संस्करण में हिन्दी वा उर्दू अनुवाद ही छापा था, उनका भी भारतीय जी ने वैदिक मैगजीन से मूल पत्र प्राप्त करके और उनका अनुवाद करके आर्य जनता का परम उपकार किया है।

यह न जाने कैसी विडम्बना है कि द्वितीय-तृतीय संस्करण के समय मैं बीमार रहा, परन्तु कार्य करता रहा। इस बार तो इतना बीमार हो गया कि कुछ आवश्यक कार्य अपने निरीक्षण में करवा कर शेष कार्यभार श्री पं० चन्द्रदत्त जी को सौंपना पड़ा। अब जो प्रथम भाग छपा है, उसे देखने से विदित होता है कि कार्य नया होते हुए भी अति लगन और परिश्रम से आप इसको पूर्ण करने में समर्थ हो सकेंगे।

प्रभु करे कि आप अपने जीवन में किसी महत्त्वपूर्ण कार्य को करने में समर्थ होवें।

निवेदक

युधिष्ठिर मीमांसक

अथ

भूमिका[1]

पत्र-संग्रह का विचार

मेरा जन्म अमृतसर के आर्य-सामाजिक कुल में हुआ। बाल्य-काल था, और स्कूल में पढ़ने के दिन थे। संवत् १९६४ में स्वर्गीय लाला लाजपतराय विरचित—**महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनकी तालीम**—नामक उर्दू ग्रन्थ पढ़ा। ऋषि-सम्बन्धी कुछ बातें ज्ञात हुईं। घर में भी बहुधा ऋषि-सम्बन्धी बातें होती रहती थीं। संवत् १९३८ के अन्त में **पण्डित लेखराम** कृत ऋषि-जीवनचरित पढ़ा। यह भी उर्दू भाषा में लिखा गया था। इसके पाठ से भगवान् दयानन्द सरस्वती की महत्ता मेरे हृदय पर विशेष अङ्कित हुई। संवत् १९६९ में मैंने ऋषि-शिष्य योगी लक्ष्मणानन्द स्वामी जी से योगमार्ग का उपदेश लिया। वे ऋषि दयानन्द सरस्वती जी की अनेक जीवनघटनायें सुनाया करते थे। उनसे मेरे मन में ऋषि की भक्ति बहुत बढ़ी। संवत् १९७० में महात्मा मुन्शीराम जी सम्पादित ऋषि का पत्रव्यवहार पढ़ा। इस में ऋषि के भेज हुए पत्र अल्प संख्या में थे और ऋषि के नाम आए पत्र अत्यधिक। ये मेरे कालेज-अध्ययन के दिन थे। तब तक मेरे हृदयपर यह सत्य अङ्कित हो गया था कि गत कई शताब्दियों में इस भूतल पर ऋषि दयानन्द सरस्वती एक अलौकिक पुरुष हुए हैं। उनके लिखे एक-एक शब्द को सुरक्षित रखना आवश्यक है। मेरे मन में यह बात दृढ़ हो गई कि ऋषि के पत्रों को एकत्र करना चाहिए। इन्हींके पाठ से ऋषि-जीवन का वास्तविक स्वरूप स्फुट होगा।

पत्र-संग्रह का आरम्भ हुआ

संवत् १९७२ के पूर्वभाग में मैंने बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की।

---

१ यह भूमिका श्री पं० भगवद्दत्तजी ने पत्र-विज्ञापन के प्रथमसंस्करण प्रस्तुत करते समय लिखी थी। प्रस्तुत संस्करण में हमने कुछ टिप्पणियां बढ़ाई हैं। यु० मी०

तब मैं व्याख्यान देना आरम्भ कर चुका था। यत्र-तत्र ऋषि-जीवन की घटनायें सुनाया करता था। उन्हीं दिनों लाहौर में सरदार रूपसिंह जी ने मेरे कई व्याख्यान सुने। एक व्याख्यान के पश्चात् वे स्वयं मुझ से मिले। उन्होंने यह हर्षप्रद समाचार दिया कि उन के पास ऋषि के कुछ पत्र हैं। मेरी प्रार्थना पर उन्होंने वे पत्र मुझे दे दिये।

दैवयोग की बात है, साप्ताहिक उर्दू पत्र प्रकाश के सम्पादक महाशय कृष्ण जी के पास भी कुछ ऋषि-पत्र मुद्रित होने को आये। आगरे के 'आर्य अनाथालय' के प्रबन्धकर्त्ता ने वे पत्र भेजे थे। कोई अनाथ बालक अनाथालय में प्रविष्ट हुआ था। उस के पास एक बस्ते में ये पत्र थे। पत्र लिखे गये थे बाबू विश्वेश्वरसिंह के नाम। वे ऋषि के भक्त थे और कभी वैदिक यन्त्रालय प्रयाग की भी सेवा करते थे। भाग्यचक्र ने उन्हीं के पुत्र पौत्र वा किसी सम्बन्धी बालक को उस अनाथालय में भेजा। उस परिवार की इस आपत्ति में भी ऋषि के पत्र सुरक्षित रहे और म० कृष्ण जी द्वारा मुझे उन की प्रतिलिपियां मिलीं। मथुरा में ऋषिजन्म शताब्दी पर संवत् १९८१ में ये पत्र प्रदर्शित हुये थे। अब ये पत्र **श्री नारायण स्वामी जी** के संग्रह में सुरक्षित हैं।

संभवत: संवत् १९७४ में मेरा परिचय प्रयाग के बाबू गजाधर प्रसाद जी से हुआ। बाबू जी के हृदय में आर्यसमाज के प्रति अटूट श्रद्धा थी, जो अब तक वैसी ही है। उन के निमन्त्रण पर मैं बरेली पहुंचा। बरेली में वे मुझे श्री विष्णुलाल एम० ए० के पास ले गये। विष्णुलाल जी ने मुझे चौधरी जालिमसिंह के पत्रों की प्रतिलिपियां करा दीं।

उन दिनों मुरादाबाद आर्यसमाज के मंत्री बाबू शिवनारायण जी थे। उन्होंने साहू श्यामसुन्दर जी के नाम के पत्र भेजे। प्रतिलिपियां करके मूल-पत्र मैंने लौटा दिये।

कालेज दल आर्यसमाज पञ्जाब के नेता स्वर्गीय श्री लाला हंसराज जी भी पत्रों के काम में बड़ी रुचि रखते थे। उन्होंने रावराजा तेजसिंह जी को पत्र लिखकर जोधपुर के पत्र मंगवाये। प्रतिलिपि करके वे पत्र भी लौटा दिये गये।

प्रथमभाग-प्रकाशन[1]

उपरि-अर्जित सामग्री से ऋषि के पत्र और विज्ञापन का प्रथम भाग कार्तिक संवत् १९७५ अथवा अक्टूबर १९१८ में मुद्रित किया गया। इस भाग में ८२ पत्र और विज्ञापन थे। परन्तु पत्र संख्या ६३ और ६४ दो पत्र नहीं थे। अब वे पूर्ण संख्या १९५[2] पर एक पत्र के रूप में छपे हैं। अतः इस भाग में ८१ पत्र थे। उपर्युक्त प्रथम भाग पर निम्नलिखित वक्तव्य था।

कुछ पत्रों के सम्बन्ध में

ये पत्र संख्या में बहुत अधिक हैं। अतः कई भागों में निकलेंगे। पुस्तक की भूमिका अन्त में ही लिखी जायगी। सम्प्रति आर्यजनता से यही निवेदन है कि वह मुझे नये पत्रों के संग्रह करने में सहायता दे। आर्यसमाज के कई महान् व्यक्ति और उत्साही महाशय मेरी बहुत सहायता कर रहे हैं। उन सब के परिश्रम का फल है कि मैं इतने पत्र संग्रह कर चुका हूं। उन सब के शुभ नाम धन्यवाद-पूर्वक भूमिका के अन्त में आ ही जायंगे। परन्तु मैं चाहता हूं कि ऐसे सज्जनों की संख्या अधिक हो। पत्रान्वेषणार्थ मेरे पत्रों का कई आर्य पुरुषों ने तत्काल उत्तर दिया है, परन्तु अनेक लोग चुप भी रहे हैं। वे समझते हैं कि यह काम कदाचित् मेरा अपना है। यह उनकी भूल है। ऋषि के एक-एक अक्षर को सुरक्षित करना सब आर्यों का विशेष कर्तव्य है। यह ऋषि ऋण से उऋण होने का एक प्रकार है। मुझे पूरा पता है कि अनेक लोगों के घर में ऋषि के कई शिक्षाप्रद-पत्र विद्यमान हैं। उनको निः-

---

१. इस प्रकरण में लिखे गये प्रथम द्वितीय तृतीय और चतुर्थ भाग इस बृहत् संग्रह के प्रकाशन से पूर्व श्री पं० भगवद्दत्त जी ने क्रमशः छापे थे। इन भागों में छपे पत्रों का निवेश इस संग्रह में यथास्थान हो गया है। इन भागों के प्रकाशन की कथा श्री पं० भगवद्दत्त जी ने इसलिये लिखी है कि पत्रों का संग्रह किस प्रकार हुआ, इसका इतिहास सुरक्षित रहे। यु० मी०

२. यह संग्रह के प्रथम सं० की पूर्णसंख्या है। द्वितीय सं० में यह पूर्ण-संख्या २५८ पर छपा था, तृतीय सं० में यह पूर्णसंख्या ३२० पर छपा था और प्रस्तुत चतुर्थ संस्करण में यह पूर्णसंख्या ४३८ पर छपा है। यु०मी०

संकोच उन्हें प्रकाशित करवा देना चाहिये। आवश्यक पत्रों की प्रतिकृतियां भी मैं साथ दूंगा। पाठक ऐसी ही एक प्रतिकृति इस भाग के आरम्भ में पाएंगे। यह पत्र ऋषि के अपने हाथ का लिखा हुआ है। इसके रखने से जहां अन्य बातों का प्रकाश होगा वहां ऋषि का हस्ताक्षरयुक्त लेख प्रत्येक आर्य-घर में पहुंच जायगा. जितनी शीघ्रता से इस भाग का प्रचार होगा उतने अधिक उत्साह से आगामी काम चलेगा। इस भाग में बहुत से पूर्व-प्रकाशित पत्र भी आ गये हैं और संग्रह में यह आवश्यक ही था, पर आगे नवीन पत्रों की संख्या अधिक होगी। कागज आदि के अत्यन्त मंहगा होने पर भी पुस्तक का मूल्य यथासम्भव न्यून रखा गया है। परन्तु प्रतिकृति के तय्यार कराने में व्यय अधिक आया था, अतः इतना रखना पड़ा।

ऋषि के पत्रों के साथ-साथ मैं उनकी फोटो भी एकत्र कर रहा हूं। पांच-छः स्थलों पर उनकी फोटो ली गई थी, उनमें से कई एक तो छप चुकी हैं। एक सर्वथा नया चित्र मुझे रायबहादुर संसारचन्द्र जी से मिला है। दृश्य उसका अत्यन्त रोचक है। महाराज भूमि पर आसन लगाये विराजमान हैं। सामने पुस्तक पड़ा है। उसका पाठ हो रहा है, इत्यादि। ऐसे चित्रों का संग्रह करना मैं आवश्यक समझता हूं। अतएव यदि किसी सज्जन के पास ऋषि का यथार्थ फोटो हो तो वे मुझे सूचित करें। अमरीकावाला चित्र भी उन्हीं रङ्गों में छपवाया जायगा। अगले भाग के सम्बन्ध में यह कहना शेष है कि उसमें लखनऊ के पं० रामाधार वाजपेयी, दानापुर के बाबू माधोलाल, सुप्रसिद्ध राय बहादुर श्री मूलराज जी एम० ए० इत्यादि के नाम लिखे गये अनेक पत्र होंगे। इत्योम् ।

स्थान लाहौर | भगवद्दत्त

कार्तिक व० ५ वीर[1], दयानन्दाब्द ३५ |

द्वितीयभाग-प्रकाशन

दूसरा भाग संवत् १६७६ में मुद्रित हुआ। उसमें बाबू माधोलाल

१. वीर=वीरवार=बृहस्पतिवार। यु०मी०

दानापुर, ला० मूलराज एम० ए० गुजरात तथा गुजरांवाला आदि, पण्डित रामाधार वाजपेई लखनऊ को लिखे गए पत्र तथा कुछ फुटकल पत्र और विज्ञापन आदि छापे गए। ये पत्र संवत् १९७५ और १९७६ में एकत्र किये गये थे। इस भाग में संख्या ८३ से १३८ तक पत्र और विज्ञापन थे। नियोग का मसव्विदा नामक लेख पर कोई संख्या नहीं दी गई थी। प्रथम भाग में महाराजा श्री प्रतापसिंह जी के नाम का संख्या ५५ का पत्र पं० लेखराम कृत जीवनचरित से लिया गया था। पं० लेखराम जी ने उस की तिथि आश्विन बदी ३ शनिवार संवत् १९४० (२२ सितम्बर सन् १८८३) दी थी। जीवनचरित में इस पत्र का थोड़ा सा भाग ही छपा था। फिर यह पूरा पत्र जोधपुर से हो रावराजा तेजसिंह जी द्वारा प्राप्त हुआ। वह द्वितीयभाग में संख्या ८७ पर छापा गया। मूल पत्र में तिथि—आ० ब० ३ शनि सं० १९४०—थी। यहां आ० से आषाढ़ अभिप्रेत था। पं० लेखराम जी अथवा उनके सम्पादक ने आश्विन बनाने में भूल की।

इस प्रकार दूसरे भाग तक पत्र और विज्ञापनों की संख्या १३७ थी। इस भाग के साथ निम्नलिखित वक्तव्य छापा गया था—

कुछ पत्रों के सम्बन्ध में।

ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन के प्रथम भाग में की गई प्रतिज्ञानुसार यह दूसरा भाग अब जनता के सामने धरा जाता है। इसमें भी कई अत्यन्तोपयोगी पत्र दिये गये हैं। कुछ पत्रों की अङ्गरेजी बड़ी अशुद्ध थी। वह मूलवत् रहने दी गई है। प्रतीत होता है उन दिनों ऋषि के समीप कोई अतीव साधारण अङ्गरेजी पढ़ा-लिखा लेखक था। इन पत्रों का मैंने भाषानुवाद कर दिया है।

इस भाग में तीन लेख बड़े महत्त्व के हैं। एक वेदभाष्य का विज्ञापन सं० १३७, दूसरा उचित वक्ता की समीक्षा सं० १३८ और तीसरा नियोग का मसव्विदा सं० १३९। उचित वक्ता का लेख मैंने क्यों यहां छापा है? इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि पत्र संख्या २७, भाग प्रथमानुसार श्री महाराजा ने स्वयं लिखा है 'और मैं भी उस प्रश्नोत्तरी के विरुद्ध विषय के उत्तर में सम्मत हूं' अर्थात् इस लेख से वे सहमत थे। मेरे विचारानुसार यह उत्तर

उन्होंने स्वयं लिखवाया था। इस बात को किसी अगले भाग में, जब कि समस्त पत्रों की एक विस्तृत भूमिका लिखी जायगी, मैं प्रमाणित करूंगा। अब रहा नियोग का मसव्विदा। पत्र १११ में श्री स्वामी जी श्री मूलराज जी एम० ए० को इसी के विषय में लिख रहे हैं। इस का मूल श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी को मेरठ से मिला था। उन्होंने इसे 'प्रकाश' में छपवा दिया था। वहीं से मैंने ले लिया है। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने मुझे कहा था कि इसके छपने में अशुद्धियां रह गई थीं, सो आशा है, वह आगे कभी दूर हो जायेंगीं।

नवीन पत्रों के संग्रह करने का यत्न कर रहा हूं। पर्याप्त संख्या में प्राप्त कर लेने पर उन्हें भी प्रकाशित कर दूंगा। आशा है परमात्मा की कृपा से लोग ऋषि के शुद्ध हृदय का दर्शन इन पत्रों से भले प्रकार करेंगे।

शीघ्रता के कारण छपने में कोई ५, ७ साधारण अशुद्धियां रह गई हैं, पाठक उन्हें स्वयं सुधार लें। हां पृ० २१ पर पंक्ति ८ में 'कलम्' में 'फलम्' पढ़ें।

स्थान लाहौर
मार्गशीर्ष, शुक्ला ६ शुक्र
दयानन्दाब्द ३७ | भगवद्दत्त

तृतीयभाग-प्रकाशन

संवत् १९७६ से १९८३ तक पत्रों की उपलब्धि का काम अत्यन्त शिथिल रहा। इस काल में और इससे पूर्व भी हम ने अनेक व्यक्तियों और आर्यसमाजों को पत्र लिखे। परन्तु सफलता के दर्शन न हुये। लगभग सब स्थानों से यही उत्तर आता था कि पत्र नहीं हैं। इन उत्तरों के तीन उदाहरण नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

१—पहला उदाहरण पं० प्रभुदयाल जी के उत्तर का है। ये महाशय संवत् १९३३ में लखनऊ में श्री स्वामी जी से मिले थे। तदनन्तर इन्होंने पांच दर्शनों पर भाषा-भाष्य रचे। मीमांसा-दर्शन विषयक एक पत्र इन्होंने श्री स्वामी जी को भेजा। वह म०

मुन्शीराम सम्पादित पत्रव्यवहार पृ० ४०२ पर छपा है। ये तेरही ग्राम जिला बांदा में रहते थे। इन का उत्तर जो मुझे प्राप्त हुआ, निम्नलिखित है। सन् १९१७ में प्रभूतानन्द नाम धारण करके वे संन्यासी हो गये।

तेरही ता० २—१०—१७

श्रीमान् महाशय नमस्ते !

आप का पत्र ता० २-९-१७ का कल्ह यहां ता० १-१०-१७ को एक मास व्यतीत होने पर प्राप्त हुआ है।...

जो पत्र मि० चै० सु० १३ सं० १९४० में मैंने स्वामी दयानन्द जी महाराज की सेवा में भेजा था, उस में मैंने मीमांसा में बलिदान विषयक जो हिंसापरक लेख मिलता है, उसके यथार्थ वा मिथ्या होने और मन्तव्य वा अमन्तव्य होने के विषय में प्रश्न किया था, उसका उत्तर स्वामी जी ने भेजा था। जो पत्र आया था, उसका पता नहीं लगता। पास नहीं है परन्तु पत्र के लेख का स्मरण है। उत्तर में श्री स्वामी [जी ने] आशीर्वाद के अनन्तर यह लिखा था कि—

'मीमांसा के मूल शब्दों में हिंसाविधि का अर्थ नहीं है। यह भाष्यकार और वृत्तिकार की भूल है जो हिंसापरक अर्थ किया है। हम को वेदभाष्य करने आदि कार्यों से अवकाश नहीं मिलता। यही कारण है कि आपके पत्र का उत्तर इस समय दस बजे रात्रि को लिखता हूं।'

ऐसा उत्तर संक्षेप लेख से दिया था।...... ......

आपका हितैषी
प्रभूतानन्द

२—थियोसाफिकल समाज की प्रधाना श्रीमती एनी बेसेण्ट ने निम्नलिखित उत्तर दिया—

Bombay,
21-8-18

Dear sir,

I have no correspondence between Swamiji and

Col. Olcott and Mme Blavatsky. I am sorry to be unable to help you.

Sincerely
ANNLE BESANT

३—तीसरा उत्तर परलोकगत न्यायाध्यक्ष श्री महादेव गोविन्द रानाडे जी की धर्मपत्नी की ओर से है—

591 Sadashiv Peth
Poona city
13-11-18

Dear sir,

I am desired by my sister Mrs. Ramabai sahele Ranade to Acknowledge receipt of your letter of the 4th Int, and to say that she regrets there are no records regarding the matter you refer to in fact there is no collection refering to that period.

Yours truly,
K M. Kelkar

अनेक स्थानों से मेरे पोस्ट कार्ड और लिफाफे लौट आते थे। वे व्यक्ति तब इस लोक में नहीं थे।

कभी-कभी कहीं से पत्र आ जाता था कि पत्र मिल सकेंगे। इस का एक उदाहरण मेरठ से आए हुए निम्नलिखित पत्र से मिलेगा—

श्रीमान्—

......., स्वामी जी के पत्र मुखतलिफ बस्तों में रक्खे हैं। जब आप पहले आये थे, तब मैं उन बस्तों को देख ही चुका था और करीब १ महीने के लगा था। सो इस समय गर्मी अधिक है देखने का समय नहीं। एक-दो खत तो एक-दो बस्तों से निकाले हैं और फिर किसी वक्त जब मौका होगा निकाल रक्खूंगा।

धनपतिराय

कई वर्ष अतिवाहित हो गये। मेरठ का यह अमूल्य संग्रह

हस्तगत नहीं हो सका। श्री ला० धनपतिराय जी के पिता ला० रामशरण मेरठ के प्रसिद्ध रईस थे। वे परोपकारिणी सभा के प्रथम मन्त्री और ऋषि के अनन्य भक्त थे। मुं० बखतावरसिंह प्रबन्धकर्ता वैदिक यन्त्रालय काशी ने जब हिसाब की गड़बड़ की तो श्री स्वामी जी ने तत्सम्बन्धी सब पत्रादि उन्हें भेज दिये। ला० रामशरणदासजी का श्री स्वामी जी के जीवन काल में ही अकस्मात् निधन हो गया।[1]

वे सब पत्रादि उन के घर पर रहे। उनकी सर्व सम्पत्ति कोर्ट आफ वार्ड्स में चली गई। सब पदार्थ बन्द पड़े रहे। यह सामग्री न तो पं० लेखराम जी को प्राप्त हुई और न श्री देवेन्द्र बाबू को।

संवत् १९८३ मास आषाढ़ में महाशय मामराज जी (जिला मुजफ्फरनगर अन्तर्गत कसबा खतौली निवासी) दयानन्द कालेज लाहौर के पुस्तकालय में मुझ से मिले। उनका मेरा परिचय संवत् १९७५ में आर्यसमाज मन्दिर मेरठ नगर में हुआ था। वहां मेरे साथ पण्डित रामगोपाल जी शास्त्री भी थे। म० मामराज जी की ऋषिभक्ति से मैं उनकी ओर आकर्षित हो चुका था। उन्हें ही उपयुक्त व्यक्ति समझकर मैंने उनसे कहा कि वे मेरठ में ठहर कर ला० धनपतिराय जी से पत्र लेने का पूर्ण यत्न करें। आषाढ़ शुक्ला १० संवत् १९८३ के दिन मैंने उन्हें ला० धनपतिराय जी के नाम पत्र दिया।

म० मामराज जी श्रावण शुक्ला ६ संवत् १९८३ को मेरठ पहुंचे। **लगभग डेढ़ मास के अनथक परिश्रम के** पश्चात् ला० धनपतिराय जी ने खोजकर आश्विन कृष्णा द्वादशी को ऋषि के पत्रों का एक संग्रह उन्हें सौंपा। इस पुण्यदायक महत्कार्य में मेरठ के महाशय राजाराम, ला० दीवानसिंह, बा० बद्रीप्रसाद, बा० रत्नलाल, बा० मोतीलाल, मास्टर विश्वम्भरदयाल, बा० भैरोदयाल, चौधरी जयदेवसिंह, डा० अयोध्याप्रसाद जी आदि सज्जनों ने समय-समय पर बड़ी सहायता की।

---

१. देखो म० मुन्शीराम सम्पादित पत्रव्यवहार में श्री स्वामी जी के नाम भाई जवाहरसिंह लाहौर का ११ मई १८८३ का पत्र, पृ० १३०-१३५ तक। [इस पत्र को प्रस्तुत संस्करण के तृतीय भाग में देखें।]

इन्हीं दिनों म० मामराज ने मेरठ के मास्टर आनन्दीलाल आदि के और भी कई घर ढूंढे। परन्तु पत्र-सामग्री अन्य किसी के घर से हस्तगत न हुई। मेरठ निवासी श्री घासीराम जी एम० ए० के पास श्री देवेन्द्र बाबू का पर्याप्त संग्रह आ चुका था। उस में से उन्होंने महती कृपा करके दो मूलपत्र (पूर्ण संख्या २६ और ३६) तथा १६ नवीन पत्रों की प्रतिलिपियां जो उनके पास थीं, उदारतापूर्वक प्रदान कीं। यह सब सामग्री आश्विन शुक्ला २ संवत् १९८३ शुक्रवार को म० मामराज जी मेरे पास ले आए। जयपुर के पत्रों की प्रतिलिपि भी स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त जी दाधिमथ की प्रेरणा से ठाकुर नन्दकिशोरसिंह जी ने मेरे पास भेज दी थी।

म० मामराज जी पुनः खोज पर निकले। कर्नल आलकाट और मैडम के नाम लिखे गये दो अत्यन्त आवश्यक पत्रों की प्रतिलिपियां उन्होंने मुरादाबाद के ठाकुर चेतनदेव से लीं। ये प्रतिलिपियां उनके पिता ठाकुर शङ्करसिंह उपनाम भूपजी मन्त्री आ० स० मुरादाबाद के काल से उन के घर में सुरक्षित चली आ रही थीं। इस सब सामग्री से पत्रों का तृतीय भाग, ३-१-२७ को प्रकाशित किया गया। उस की भूमिका निम्नलिखित थी—

पाठकों से निवेदन

ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन का यह तीसरा भाग जनता के प्रति भेंट किया जाता है। इसमें जो पत्र छापे गये हैं, वे एक-दो को छोड़ कर, पहली बार ही प्रकाशित किये जाते हैं। बहुत से पत्र श्री स्वामी जी के अनन्य भक्त सेठ रामशरणदास जी रईस मेरठ के सुपुत्र ला० धनपतिराय जी रईस मेरठ ने प्रदान किये हैं। कुछ पत्र पं० घासीराम जी एम० ए० ने दिये हैं। ये पत्र उनके पास बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के संग्रह में आये थे। मेरठ से ये सब पत्र महाशय मामराज जी बड़े पुरुषार्थ से मेरे पास लाये थे। इन सब महानुभावों का मैं हृदय से कृतज्ञ हूं। अभी और भी पत्र मिल रहे हैं। वे चतुर्थ भाग में छापे जायेंगे। पाठक उनकी प्रतीक्षा करें। विस्तृत भूमिका अन्त में ही लिखी जायगी।

लाहौर
३-१-२७ भगवद्दत्त

तीसरे भाग में पत्रों की संख्या १४० से १८७ तक थी। अतः दो न्यून करके सारे १८५ पत्र तब तक छापे गये थे।

चतुर्थभाग-प्रकाशन

इसके पश्चात् भक्त ईश्वरदास जी एम० ए० लाहौर ने मुझे पूर्णसंख्या ५३ का एक पत्र दिया। अमृतसर में श्री रुद्रदत्त जी ने पूर्णसंख्या ४६ का आधा फटा पत्र दिया। मार्गशीर्ष शुक्ला १ बुधवार संवत् १९८३ को म० मामराज जी अनेक नगरों से होते हुए फर्रुखाबाद पहुंचे। फर्रुखाबाद वह स्थान है जिससे श्री स्वामी जी का विशेष सम्बन्ध रहा। ऋषि के काल के पं० गणेशप्रसाद जी तब जीवित थे। वे ही आरम्भ से आर्यसमाज के लेखक का सब काम करते थे। उन्होंने अपने पास की सारी सामग्री म० मामराज जी को दिखाई और उसको प्रतिलिपि करने की सुविधा दी। उन के पास ३८ पत्र थे। इन में से सात पत्रों की आंशिक प्रतिलिपियां हमें पं० घासीराम जी से मिल चुकी थीं। इसके पश्चात् श्री कालीचरण रामचरण जी के पुत्र बाबू शिवनारायण जी अग्रवाल प्रधान आर्यसमाज ने समाज की सब सामग्री देखने की उन्हें पूर्ण सुविधा दी। उसमें से ऋषि के पत्र, ऋषि जीवन सम्बन्धी उपयोगी सामग्री तथा पुराने रजिस्टरों में से पत्रों के आने जाने की तिथियां ली गई। आर्यसमाज के इतिहास के लिये भी बहुत सी आवश्यक सामग्री वहां से कई मास तक खोजने पर मिली।[1]

फर्रुखाबाद के राजा दुर्गाप्रसाद जी अग्रवाल ऋषि के बड़े भक्त थे। उनके घर की खोज आवश्यक थी। म० मामराज जी ने उन के पुत्र श्री बाबू भारतेन्दु जी से पत्रों की पुरानी रद्दी देखने की आज्ञा ली। एक बृहत् कोष्ठागार पचासों वर्षों के लाखों पुराने पत्रों से भरा पड़ा था। उनमें से एक-एक का देखना कोई साधारण काम न था। म० मामराज जी के कई मास के परिश्रम से उसमें से अनेक उपयोगी पत्र मिले। इनमें से सात ऋषि के भेजे हुए पत्र थे। यह एक आश्चर्यजनक अन्वेषण था। म० मामराज जी के अति-

---

१. यह सब सामग्री देशविभाजन काल में लाहौर में नष्ट हो गई।
—यु० मी०

रिक्त दूसरा व्यक्ति नहीं था, जो इतने धैर्य से यह काम करता। ऋषि-जीवन की अनेक घटनायें इन्हीं पत्रों से मिली हैं। ईश्वर ने अपनी अपार दया से इस संग्रह की रक्षा की और मामराज जी द्वारा वह अपूर्व-संग्रह संसार के सामने आया।

फर्रुखाबाद में ला० जगन्नाथ जी अग्रवाल तथा बाबू सूर्यप्रसाद और श्री नारायणदास जी मुख्तार के घर भी खोजे गये। परन्तु ऋषि के पत्र वहां से नहीं मिले। फर्रुखाबाद के ये सब पत्र चतुर्थ भाग में संख्या १८८ से २४६ तक छपे थे।

पूर्णसंख्या ११४ का ऐखवासी ठाकुर भूपालसिंह के नाम का पत्र म० मामराज जी ने प्रसिद्ध आर्य-कवि पं० नाथूराम जी शर्मा 'शङ्कर' से प्राप्त किया था। कवि जी को यह पत्र किसी पंसारी की रद्दी में से मिला था। पूर्णसंख्या २६१ के पत्र की प्रतिलिपि मुरादाबाद से मुंशी इन्द्रमणि जी के पौत्र ला० भगवत्सहाय जी से ली गई। पूर्णसंख्या ४०४ का पत्र ऐतमादपुर वासी ला० द्वारका-प्रसाद जी से म० मामराज जी ने प्राप्त किया। पूर्णसंख्या ४१५ तथा ला० मूलराज जी एम० ए० के नाम के पत्र उन्हीं के घर से हमें मिले। श्री लाला जी पुराने पत्रों के मुट्ठे मेरे सामने रख देते थे और मैं एक-एक कार्ड और लिफाफा देखता था। बहुत दिन लगाकर मैंने वह सारा संग्रह देखा। उस में से पांच पत्र प्राप्त हुए।

इस सब सामग्री से पत्रों का चतुर्थभाग ६-७-२७ को प्रकाशित किया गया। उसकी भूमिका निम्नलिखित थी—

पाठकों से निवेदन

ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन का यह चतुर्थ भाग जनता के प्रति भेंट किया जाता है। इसमें जो पत्र छापे गये हैं, वे एक-दो को छोड़ कर, पहली बार ही प्रकाशित किये जाते हैं। इन में से अधिकांश पत्र फर्रुखाबाद से प्राप्त किये गये हैं। इन के प्राप्त करने का श्रेय महाशय मामराज जी को है। उन्होंने निरन्तर कई मास फर्रुखाबाद में वास करके लाखों पुराने रद्दी पत्रों में से ये पत्र निकाले हैं। फर्रुखाबाद समाज के पुराने सभासद पं० गणेशप्रसाद जी ने भी इस कार्य में विशेष सहायता दी है।

उन का मैं आभारी हूं। पत्रों की खोज के लिये १२०) रु० श्री मान् जस्टिस बखशी टेकचन्द जी ने दिये थे। उनका मैं बड़ा कृतज्ञ हूं। पर पत्रों की खोज पर १२०) रु० तो क्या ५००) रु० से भी अधिक व्यय अभी तक हो चुका है। आगे भी निरन्तर हो रहा है। मेरे लिये इतना व्यय करना बड़ा कठिन है। क्या कोई आर्य सज्जन इस विषय में सहायता करेंगे। पांचवां भाग शीघ्र ही अजमेर से छपेगा। विस्तृत भूमिका अन्त में ही लिखी जायगी।

लाहौर ६-७-२७ भगवद्दत्त

तदनन्तर पत्रसंग्रह की प्रगति

इसके पश्चात् पत्रसंग्रह का काम मन्थरगति से होता रहा।

शाहपुरा राज मेवाड़ से श्री राजाधिराज श्री नाहरसिंह जी की आज्ञा से पं० भगवान्स्वरूप जी ने भाद्रपद वदी ७ संवत् १९८५ के अपने पत्र के साथ श्री राजाधिराज के नाम लिखे गये ११ पत्रों की प्रतिलिपियां हमें भेजीं।

संवत् १९९० में म० मामराज जी ने गुरुकुल काङ्गड़ी से ठाकुर किशोरसिंह जी के संग्रह की और देहरादून से स्वामी कृपाराम जी के कुछ पत्रों की प्रतिलिपियां कीं।

अजमेर के प्रसिद्ध आर्यधर्म-प्रचारक पं० रामसहाय जी ने ज्येष्ठ वदी १० संवत् १९९० (सन् १९-५-३३) को अपने पत्र के साथ तीन बहुमूल्य पत्र हमारे पास भेजे (पूर्णसंख्या ३१, ३७, ७५ वर्तमान संस्करण)।

बहुत दिन अतीत हुए जब अद्वितीय राजनीतिज्ञ तथा सुप्रसिद्ध देशभक्त श्री भाई परमानन्द जी, एम० ए० ने मुझसे कहा था कि पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा के नाम लिखे गये श्री स्वामीजी के अनेक पत्र एक राना महाशय के पास फ्रांस में सुरक्षित थे। मैंने उनकी प्राप्ति का यत्न किया, पर असफल रहा। इतने में प्रयाग विश्वविद्यालय के अध्यापक श्री धीरेन्द्र वर्मा एम० ए० डी० लिट् ने जनवरी सन् १९३७ के साप्ताहिक आर्यमित्र में निम्नलिखित टिप्पण छपवाया—

स्वामी जी के कुछ नये पत्र

गत वर्ष मैं पढ़ाई के सिलसिले में पेरिस में था। वहां मुझे

मालूम हुआ कि एक प्रसिद्ध गुजराती व्यापारी राना महोदय[1] के पास स्वर्गीय पं० श्यामजी कृष्णवर्मा की निजी पुस्तकें आदि हैं और उनमें स्वामीजी के भी कुछ पत्र हैं। राना महोदय से मिल कर मैंने इन पत्रों को प्राप्त करने का यत्न किया और इसमें मुझे सफलता हुई।

सब मिलाकर ये २६ पत्र हैं। ये सब १८७७-७९ ईसवी के लिखे हुए हैं। इनमें तीन पत्र तो आद्योपान्त स्वामी जी के हाथ के लिखे हैं और शेष दूसरों के हाथ से लिखवाए हुये हैं। किन्तु एक को छोड़कर प्रत्येक में स्वामी जी के हस्ताक्षर हैं। कुछ पत्रों में स्वामी जी ने एक-दो पंक्तियें अपने हाथ से भी बढ़ा दी हैं। स्वामी जी के हाथ के लिखे पत्रों में दो हिन्दी में हैं और एक संस्कृत में। शेष पत्रों में १५ हिन्दी में, ६ अङ्गरेजी में तथा २ संस्कृत में हैं। इन पत्रों में १६ पत्र पं० श्याम जी कृष्ण वर्मा को लिखे गये हैं। १ मूलराज जी (लाहौर) को, १ बल्लभदास जी (लाहौर) को, ५ गोपालराव हरिदेशमुख जी को, २ हरिश्चन्द्र चिन्तामणि जी (बम्बई) को और १ हेनरी आलकट तथा मैडम ब्लावाट्स्की को।

अधिकांश पत्र छोटे-छोटे प्रबन्ध-सम्बन्धी विषयवाले हैं, जिस में प्रायः वेदभाष्य की छपाई आदि के सम्बन्ध में चर्चा की गई है। किन्तु इन से भी स्वामी जी की इन तीन वर्षों की यात्रा क्रम का पता चलता है। दो-तीन पत्रों में कुछ सिद्धान्तों का विवेचन मिलता है। उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालनेवाले अंश तो प्रायः

---

१. इन राना महोदय का नाम 'सरदारसिंह राणा' था। ये महान् देशभक्त थे। इनके परिवार में श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा की कुछ फाइलें अभी सुरक्षित हैं। उन को देखने का प्रयत्न कर रहा हूं। उचित समय पर इस विषय में विस्तार से लिखा जायेगा। इन से श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा के जामाता श्री कृष्ण स्वरूप जी सक्सेना ऋ० द० के कुछ पत्र फोटोप्रिण्ट कराने के लिये ले गये थे। उन्होंने न मूल पत्र लौटाये और ना ही फोटो-प्रिंट दी। सक्सेना जी का अभी तक पता नहीं चला, ये कहां रहते हैं।

—यु० मी०

प्रत्येक पत्र में मिल जाते हैं। फिर उनके हस्ताक्षर और हस्तलेख ऐतिहासिक महत्त्व रखते ही हैं।

मेरी इच्छा है कि यह अमूल्य सामग्री किसी ऐसी संस्था में रखदी जावे, जहां यह सुरक्षित रह सके और साथ ही आर्य बन्धुओं तथा हिन्दी प्रेमियों की पहुंच के अन्दर भी रहे। मैं अत्यन्त बाधित होऊंगा यदि कोई सज्जन मुझे ऐसी संस्थाओं के पते भेज सके, जहां इन उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।

८ बैंक रोड,
इलाहाबाद।

धीरेन्द्र वर्मा
एम० ए० डी० लिट्
(पेरिस)

संवत् १९९२ में स्वर्गीय पं चमूपति जी एम० ए० ने ठाकुर किशोरसिंह जी के संग्रह को गुरुकुल काङ्गड़ी हरद्वार से प्रकाशित किया। यह संग्रह अत्यन्त अपूर्व है। हम लिख चुके हैं कि इससे पूर्व ही अर्थात् संवत् १९९० में म० मामराज जी श्री स्वामी जी के इन पत्रों को प्रतिलिपि कर लाए थे।

संवत् १९९६ में मैं प्रयाग गया। पं० वाचस्पति जी एम० ए० मेरे साथ थे। हम दोनों ने प्रो० धीरेन्द्र वर्मा जी के निवास पर जाकर उन के संग्रह के अधिकांश पत्रों की प्रतिलिपि की। संवत् २००० में श्री महेशप्रसाद जी साधु ने उस संग्रह के शेष पत्रों की प्रतिलिपियां हमारे पास भेजीं। अभी गत मास में ही पत्र पूर्ण संख्या ४८४ की एक और प्रतिलिपि अध्यापक धीरेन्द्रवर्मा जी ने हमारे पास भेजी।

परोपकारिणी सभा अजमेर का संग्रह

श्री स्वामी जी के देहत्याग पर परोपकारिणी सभा ने निश्चय किया कि श्री स्वामी जी का प्रामाणिक जीवन-चरित सम्पादित तथा प्रकाशित कराया जाये। यह काम पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या उपमन्त्री सभा को सौंपा गया। उन्होंने तद्विषयक कुछ सामग्री उपलब्ध की।[1] हमें खोज करने पर भी उस सामग्री का कुछ पता नहीं लगा।

१—देखो:—म० मुन्शीराम सम्पादित पत्रव्यवहार की भूमिका पृ० ८ और ९।

परोपकारिणी सभा के मन्त्री, ऋषिभक्त, वयोवृद्ध दीवान-बहादुर श्री हरबिलास जी शारदा को मैंने अनेक बार लिखा कि वे उन समस्त पत्रों की प्रतिलिपियां भेजें, जो उन के पास हैं और अभी तक प्रकाशित नहीं हुए। तदनुसार सन् १९४३ मास सितम्बर में उन्होंने ऐसे सब पत्रों की प्रतिलिपियां मेरे पास भेजीं। वे सब इस संस्करण में यथास्थान छप गए हैं।

कुछ और नये पत्र

अभी मास आषाढ़ संवत् २००२ में इन पत्रों का मुद्रण समाप्त हो रहा था। म० मामराज जी गत छः मास से मेरे पास थे। मैंने उन से कई बार कहा कि मेरठ के ला० रामशरण जी के घर पर पड़े हुए सब बस्ते एक बार उन्हें स्वयं देख लेने चाहियें। संभव है कि ला० धनपतराय जी पूरे रूप से उन्हें न देख सके हों। म० मामराज जी मेरठ पहुंचे। उन्होंने ३१-७-४५ को मुझे पत्र लिखा कि उसी पुराने स्थान से उन्होंने १५ पत्र और खोज लिए हैं।

हमारे संग्रह में एक कागज पर उर्दू में कुछ लेख था। ध्यान-पूर्वक पढ़ने पर पता लगा कि श्री स्वामी जी ने उस पर कुछ पत्र लिखवाये थे। वे ही पूर्वरूप में उर्दू में उस पत्र पर थे। इन सब पत्रों को हम ने परिशिष्ट में छाप दिया है।[1]

सम्पूर्ण उपलब्ध पत्रों के नवीन संस्करण का आयोजन

आरम्भ में जैसे-जैसे पत्र प्राप्त होते जाते थे वैसे-वैसे ही रक्षा के विचार से मुद्रित कर दिये जाते थे। अगली खोज चलती रहती थी। पर्याप्त सामग्री एकत्र हो जाने पर यह निश्चय किया गया कि ऋषि का प्रामाणिक जीवन-चरित लिखने के लिये इन सब पत्रों और विज्ञापनादि का तिथि क्रमानुसार सम्पादन अत्यावश्यक है। तदनुसार मास श्रावण संवत् १९८४ से पत्रों के इस संस्करण का आयोजन आरम्भ कर दिया गया था। पुराने सब पत्र तिथि क्रम से जोड़े गए।

---

१. प्रथम संस्करण में परिशिष्टरूप में छापे गये सभी पत्र द्वितीय संस्करण में तिथि क्रम से यथास्थान छापे गये। यु० मी०

तिथिक्रमानुसार पत्र-सम्पादन का प्रथम अपूर्व लाभ

उस समय प्रथम वार यह ज्ञात हुआ कि जीवन-चरितों में तिथियों की अनेक अशुद्धियां हो गई हैं। पत्रस्थ तिथि स्थान ज० से जनवरी का अभिप्राय था और कई लेखकों ने जून समझा।[1] इसी प्रकार आ० अर्थात् आषाढ़ को आश्विन अथवा आश्विन को आषाढ़ समझा गया।[2] मा० अर्थात् मार्गशीर्ष से माघ समझा गया अथवा इस के विपरीत।[3] ऐसी अशुद्धियां इस संस्करण की टिप्पणियों में प्रदर्शित की गई हैं।

द्वितीय अपूर्व लाभ

दूसरा महान् लाभ यह हुआ कि जीवनचरितों में दी गई श्री स्वामी जी के अनेक स्थानों पर पहुंचने और वहां से प्रस्थान की तिथियां अशुद्ध प्रमाणित हुईं और यह विदित हुआ कि जीवन-चरितों में कई स्थानों पर पहुंचने का उल्लेख भी नहीं है। यथा—

पूर्ण संख्या	पत्र की तिथि	घटना	भूल वा अभाव
२	भा. शु. ६ सं. १९२७ = १ सि. १८७०	स्वामीजी फरुखाबाद में थे।	पं. लेखराम कृत जीवन-चरित में यह घटना नहीं है।
३६	पौ. सु. २ सं. १९३३ = १७ दि. १८७६	देहली पहुंचे।	पं. लेख. जी. च. में दिसम्बर का अन्त है, तिथि नहीं है। पं. घासी. जी.च. में भी तिथि नहीं है।

१. द्र०—पूर्ण संख्या ५३१ का पत्र, पृष्ठ ५७६ की टिप्पणी १। यु० मी०

२. द्र०—जोधपुर से लिखा गया आषाढ व० ३, शनि सं. १९४०(२३ जून १८८३) का पत्र तथा टिप्पणी। यह दूसरे भाग में छपेगा। यु. मी.

३. द्र०—उदयपुर से लिखा गया मार्ग (?, माघ) बदी ५ रविवार (२८ जनवरी १८८३) का पत्र तथा उसकी टिप्पणी। यह दूसरे भाग में छपेगा। यु. मी.

पूर्ण संख्या	पत्र की तिथि	घटना	भूल वा अभाव
३८ ३९	सन् ६-२-७७ ,, १३-२-७७	सन् १५-२-७७ को मेरठ से चलकर सहारनपुर पहुंचे।	पं. लेख. और घासी. जी. च. में ४ फरवरी को मेरठ से चलकर सहारनपुर गये।
४० ४१	,, २८-२-७७ ,, ६-३-७७	११ मार्च को सहारनपुर से चले।	लेख. जी. च. में नहीं। घासी जी. च. में है।
४९	२१ जु. १८७७	१२ जुलाई को लाहौर से अमृतसर पहुंचे।	लेख. जी. च. में ५ जु. को पहुंचे। इसी प्रकार घासी. जी. च. में भी पर अशुद्ध है।
५१ टि. २	...	१४ मई १८७७ को पंजाब गवर्नर से लाहौर में मिले।	लेख. जी में नहीं। घासी. जी. च. पृ. ४१४ अशुद्धि है।
६०	११-१०-१८७७	१५ अक्टूबर १८७७ को जालन्धर से अमृतसर पहुंचे।	लेख. जी.च. में नहीं है। घासी. जी च. में नहीं है। दोनों में १७ को जालन्धर से चलना लिखा है।
७१	२७ दि. १८७७	२७ दि. को जेहलम पहुंचे।	लेख. तथा घासी जी. च. दोनों अशुद्ध। देखो टि. पृ. १२५।
१००	१५ जु. १८७८	१५ जुलाई को अमृतसर में थे।	लेख. जी. च. तथा घासी. जी. च. दोनों में ११ जु. तक ही अमृतसर में रहना लिखा है।
१४७	७ अक्टू. १८७८	३ अक्टूबर को दिल्ली पहुंचे।	लेख. तथा घासी. के अनुसार ६ अक्टू. को दिल्ली

पूर्ण संख्या	पत्र की तिथि	घटना	भूल वा अभाव
			पहुंचे ।
२४७	...	२० नवम्बर १८७९ को काशी में थे ।	लेख. २७ नवम्बर को काशी पहुंचे । घासी में तिथि नहीं ।
३७७ ३७९ ४३१ ४४८	...	अलीगढ़ पहुंचने का वृत्तान्त ।	यह वृत्तान्त किसी जीवन चरित में नहीं है ।
४८१	१३ दिस. १८८१	१६ दिसम्बर को इन्दौर पहुंचने की सूचना ।	लेखराम (पृ. ५५५) घासी. (पृ. ६५५)— दोनों में २१ दिस. १८८१ को इन्दौर पहुंचे ।
६८७	३१ मई १८८३	३१ मई जोधपुर पहुंचे ।	लेखराम २९ मई को जोधपुर पहुंचे ।
☞ ☞	२७ जून १८८३ ३० जून १८८३	२६ जून १८८३ को महाराज जोधपुर श्री स्वामी जी से मिले ।	लेखराम तथा घासीराम १४ जून को महाराजा उनसे मिले ।

अशुद्धियों की यह संक्षिप्त-सी सूची है । प्रामाणिक जीवनचरित में सब अशुद्धियां स्पष्ट की जायेंगी ।

तृतीय अपूर्व लाभ

अनेक पत्रों में न तिथि, न संवत् और न स्थान ही लिखा गया है । पत्रों को तिथिक्रमानुसार लगाने से ही ऐसे पत्र यथास्थान रखे

☞ यहां दो पत्रों की पूर्ण संख्या नहीं दी है । साथ के कोष्ठ में दी गई पत्र की तिथि वा तारीख से पत्र मिल जायेगा । यु. मी.

जा सके हैं। प्रकरण ने भी इस विषय में पूर्ण सहायता दी है। इस से प्रामाणिक जीवनचरित लिखने में सुविधा होगी।

चतुर्थ अपूर्व लाभ

अनेक पत्रों के अन्त में लेखकों की भूल से वदी, सुदी, मास अथवा संवत् अशुद्ध लिखा गया है। ऐसी असावधानी अब भी अनेक लोगों से हो जाती है। तिथिक्रमानुसार पत्रों के छापने से ऐसी सब अशुद्धियां दूर हो गई हैं। उनके कतिपय उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

पत्र पूर्ण संख्या	पत्रस्थ अशुद्ध तिथि वा संवत्	यथार्थ तिथि वा संवत्
२३	चैत्र वदी ९	ज्येष्ठ वदी ९
१५०	३१ अक्टूबर	१३ अक्टूबर
२०२	वैशाख सुदी २	वैशाख वदी २
२०३	१०-४-७८	१०-४-७९
२९५	आषाढ़ सुदी ६ संवत् १९३६	आषाढ़ वदी ६ सं. १९३७
२७७	एप्रिल	जुलाई
४२५	सन् १८८०	१८८१
४४८	सन् १८८०	१८८१
४४९	७ मार्च	७ एप्रिल
४६९	आ० शु० ११	आ.(=आश्विन)सुदी १०
५१५, ५३२	संवत् १९३८	संवत् १९३९
६४३		
६६१, ६६३		
६६८	संवत् १९३९	संवत् १९४०

पञ्चम लाभ

श्री स्वामीजी कई ऐसे नगरों में गये, जिनका जीवनचरितों में उल्लेख नहीं है। पत्रों के तिथिक्रमानुसार लगने से ही जीवन-चरितों की ऐसी त्रुटियां दूर हुई हैं। प्रामाणिक जीवन-चरित में अब ऐसी भूलें नहीं रहेंगी।

पत्रों में अयोग्य लेखकों के कारण भाषा और लेख की अनेक अशुद्धियां

पाठक देखेंगे कि महात्मा मुंशीरामजी, पं० चमूपतिजी और स्व-संपादित पहले भागों के सदृश हम ने लेखकों द्वारा की गई **सब अशुद्धियां इस बृहत् पत्र-संग्रह में भी मूलवत् ही रहने दी हैं।** श्री स्वामीजी को पत्र लिखने अथवा लिखे गये पत्रों को पूरा शोधने का समय प्रायः नहीं मिलता था। धनाभाव के कारण उनको श्रेष्ठ लेखक नहीं मिल सके। इसके अतिरिक्त उस युग का मतवाद भी अच्छे लेखकों की प्राप्ति के मार्ग में बाधक था। यही कारण है कि पत्रों में लेख की अनेक अशुद्धियां हैं। **हम ने पत्रों को मुद्रित करते हुये यत्र-तत्र विरामादि तो दे दिये हैं; परन्तु लेख मूलवत् ही रहने दिया है।** श्री स्वामीजी जैसे प्रखर पण्डित को कैसी महती कठिनता में ऐसे अल्पबुद्धि लेखकों के साथ अपना महान् कार्य करना पड़ा, यह इन अशुद्धियों से ही ज्ञात हो जायगा।

कृत्रिम पत्र

जात-पात तोड़ने की आड़ में वेदमत के नाश करनेवालों का एक दल लाहौर में है। उसके प्रमुख सदस्यों के नाम सुप्रसिद्ध हैं। उन्हीं में से किसी वा किन्हीं के परामर्श से हिन्दी-प्रताप कानपुर में ऋषि के नाम से दो पत्र छापे गये। दूसरा पत्र १९ दिसम्बर सन् १९२६ को छपवाया गया था।[1] इन दोनों पत्रों की भाषा श्री स्वामीजी की भाषा से सर्वथा भिन्न और वर्तमान काल की है। पत्रों का विषय श्री स्वामी के सिद्धान्तों से सर्वथा विपरीत है। पत्रों में ऐतिहासिक सत्यता के विपरीत कल्पना है। यथा दूसरा पत्र १९४० विक्रमी कार्तिक वदि प्रथमा (=१७ अक्टूबर सन्

---

१. यह दूसरा पत्र 'अनाथ-रक्षक' अजमेर के सितम्बर १९२६ के पृष्ठ ३७-३८ पर भी छपा है। उसके ऊपर सम्पादक प्रताप की टिप्पणी छपी है और अन्त में कानपुर के पत्र-प्रताप से 'उद्धृत' लेख छपा है। प्रताप में यह पत्र १९ दिसम्बर सन् १९२६ को छपवाया था, ऐसा ऊपर लिखा है। अतः अनाथ-रक्षक में छपने का सन् १९२७ चाहिये। यह पत्र हमने वेद-वाणी के जून १९८० के अङ्क में छापा है और उसकी पूरी समीक्षा की है। यु. मी.

१८८३, बुधवार) को अजमेर से लिखा हुआ छापा गया है। उस दिन श्री स्वामीजी महाराज अजमेर में नहीं थे।[1] उन दिनों श्री स्वामीजी की अवस्था इतनी निर्बल थी कि वे बोलते भी नहीं थे। इसलिए जिस दल ने ये पत्र बनाये हैं, निश्चित होता है कि श्री स्वामीजी के इतिहास के विषय में उनका ज्ञान कुछ भी नहीं था। पूर्वदर्शित अनेक असत्यों के कारण इस दल के लोगों की मनोवृत्ति स्वयं स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार के कृत्रिम पत्रों से आर्यसमाज के हितैषी महाशयों को सदा सावधान रहना चाहिये। दुःख का विषय है कि सहस्रों आर्यसमाजी इस दल के सहायक हैं।

इन कृत्रिम पत्रों को प्रथम वार छपवानेवाला एक पण्डित अर्जुनदेव (गढ़वाली) कहा जाता है।[2] वह व्यक्ति पण्डित विश्वबन्धु एम० ए० शास्त्री का कभी शिष्य रहा है। पण्डित विश्वबन्धु वह ही व्यक्ति है, जिस ने वेद सम्बन्धी पाश्चात्य मत दूषित और अनृत सरणि का अवलम्बन करके अनेक भोले-भाले आर्यसमाजियों को आर्यसंस्कृति का विरोधी बनाया और जो दयानन्द कालिज लाहौर में से ऋषि दयानन्द सरस्वती की रही सही भावनाओं की मृत्यु का एक निमित्त बना। इन्हीं महाशय को संस्कृत का पण्डित मान कर और इन के मिथ्याकथन पर विश्वास करके दयानन्द कालेज की प्रबन्धकर्तृ सभा के अधिकांश सदस्य आर्यविश्वासों से च्युत हुए।

संवत् १९९० अजमेर निर्वाण-अर्धशताब्दी के समय पं० विश्वबन्धु और लाला मूलराज ने एक **दशप्रश्नी** पुस्तिका छपवाई थी। उस में श्री स्वामी जी के विरुद्ध कई बातें लिखी गई थीं। पूछे जाने पर पं० विश्वबन्धु जी ने लिखा कि उनका इस पुस्तिका से कोई सम्बन्ध नहीं है। **ईश्वर की सहायता से हमने इसी**

---

१. इस तिथि को जोधपुर से आबू जाते हुए 'रोपट' में ठहरे थे।
—यु० मी०

२. ७ मार्च १९२७ को हम और म० मामराज कानपुर में प्रताप कार्यालय में गये। वहां परलोक-गत श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी से इन कूट अर्थात् जाली पत्रों के सम्बन्ध की सारी सामग्री ले आए थे।

पुस्तिका के सम्बन्ध में राय मूलराज जी आदि तथा पं० विश्वबन्धु जी के हाथ का लिखा हुआ पत्र प्रकाशित कर दिया। तब जनता पर पं० विश्वबन्धु का घृणित असत्य प्रकट हुआ। उन्हीं पं० विश्वबन्धु के साथी लोग श्री स्वामी जी के नाम पर अपनी मिथ्या रचनायें करें, इस में क्या आश्चर्य है ?

ऋषि दयानन्द सरस्वती का सर्वप्रथम लेख

पं० लेखराम जी लिखते हैं—

'स्वामी जी सम्वत् १९२० वैशाख के अन्त में मथुरा में शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् आगरा की ओर गए।'[1]

'लगभग दो वर्ष तक आगरा में रहे। इस काल में समय-समय पर पत्र द्वारा अथवा स्वयं मिल कर स्वामी विरजानन्द जी से अपने सन्देह निवृत्त कर लिया करते थे।'[2]

श्री स्वामी जी स्वयं लिखते हैं—

'फिर मथुरा से आगरा नगर में दो वर्ष तक स्थिति किई। ......जहां-जहां मुझ को शंका रह जाती थी उन स्वामी जी से उत्तर यथावत् पाया।'[3]

आर्षग्रन्थों के महत्त्व को स्थापित करनेवाले प्रज्ञाचक्षु विरजानन्द और स्वामी दयानन्द सरस्वती का यह पत्रव्यवहार कितना अमूल्य होगा, इसका अनुमान विज्ञ पाठक स्वयं कर सकते हैं। पर दुःख है, वह पत्रव्यवहार किसी ने सुरक्षित नहीं किया।

उस के कुछ पश्चात् श्री स्वामीजी ने भागवत-खण्डन आरम्भ किया। पं० लेखरामजी लिखते हैं—"उसी समय का लिखा हुआ एक भड़वा भागवत का पुस्तक पण्डित छगनलाल वृद्धिचन्दजी से (मसूदा) मुझे मिला है। जिसके अन्त में संवत् १९२३ दूसरा ज्येष्ठ तिथि वदि ९ (७ जून १८६६ बृहस्पतिवार) लिखा है।"[4]

प्रतीत होता है, यही भागवत-खण्डन पुस्तक फिर छपवाया

---

१. जीवन-चरित, पृ० २९। २. जीवन-चरित, पृ० ३१।
३. इसी ग्रन्थ का विज्ञापन, पूर्णसंख्या ४१, पृ० ५१, प० ११-१७।
४. उर्दू जीवन-चरित, पृ० ४५ (हिन्दी सं०, पृ० ६७)।

गया। पं० लेखरामजी के अनुसार 'हरिद्वार के कुम्भ मेला पर मध्य मार्च सन् १८६७ में सहस्रों की संख्या में वितरण भी किया।'[1]

पं० लेखरामजी पुनः लिखते हैं—

"**पाखण्ड-खण्डन**—यह पुस्तक ७ पृष्ठ संस्कृत भाषा में स्वामी जी ने ··रचा।·········· अजमेर से लौट कर सम्वत् १९२३ के अन्त में स्थान आगरा ज्वालाप्रकाश प्रेस में पण्डित ज्वालाप्रसाद भार्गव के प्रबन्ध से कई सहस्र प्रतियां छपवाई। और वैशाख सम्वत् १९२४ के कुम्भ पर निःशुल्क बांटा गया।'[2]

यह पुस्तक उन का सर्वप्रथम उपलब्ध लेख है। इस का आरंभ और अन्त नीचे मुद्रित किया जाता है—

भागवत खण्डन

श्रीमद्भागवतं पुराणं किमस्ति। कुतः सन्देहः॥ द्वे भागवते श्रूयेते। एकं देवीभागवतं द्वितीयं कृष्णभागवतञ्च[3]। अतो जायते सन्देहोऽनयोः किमस्ति व्यासकृतमिति॥ देवीभागवतं श्रीमद्भागवतमस्ति व्यासकृतञ्च नान्यत्॥ कुत एतत्। शुद्धत्वाद् वेदादिभ्यः अविरुद्धत्वाच्च। अत एव देवीभागवतस्य श्रीमद्भागवतसञ्ज्ञा नान्यस्य च भागवतस्य। कुत एतत्। अशुद्धत्वात् प्रमत्तगीतत्वाच्च। किञ्च तत्।·········

·······················।

ये तु पाषण्डिमतविश्वासिनस्तेऽपि पाषण्डिनः।

---

१. उर्दू जीवन-चरित, पृ० ५१ (हिन्दी सं०, पृ० ७२)।

२. उर्दू जीवन-चरित, पृ० ७९० (हिन्दी सं०, पृ० ८१६)।

३. कृष्ण भागवत का खण्डन स्वामी विरजानन्द जी भी करते थे। पूना-व्याख्यान में श्री स्वामी जी कहते हैं—'विरजानन्द स्वामी ········ भागवत आदि पुराणों का तो बहुत ही तिरस्कार करते थे।'

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान् । हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेदित्याह मनुः ॥ अत एव वाङ्मात्रेणापि पाषण्डिभिस्सह व्यवहारो न कर्तव्यः ॥ पाषाणादिमूर्तिपूजनं पाषण्डिमतमेव ॥ कुत एतत् ॥ वेदादिभ्यो विरोधात्, यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ॥ तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ॥ तदेव ॥

यत्प्राणेन न प्राणते येन प्राणः प्रणीयते ॥ तदेव ॥३॥

इत्यादि श्रुतिभ्यः ॥ अत एव पाषाणादिकृत्रिम (कृत्रिम) मूर्तिपूजनं वृथैव ॥ अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ॥ इति भगवद्गीतावचनात् ॥ किं बहुना लेखनेनैतावतैव सज्जनैर्वेदितव्यं विदित्वाचरणीयमेव ॥

दयानन्दसरस्वत्याख्येन स्वामिना निर्मितमिदं पत्रं वेदितव्यं विद्वद्भिरिति शुभं भवतु वक्तृभ्यश्श्रोतृभ्यश्च । वेदोपवेदाङ्ग-मनुस्मृति-महाभारत-हरिवंशपुराणानां वाल्मीकिनिर्मितस्य रामायणस्य चाध्यापनमध्ययनं कर्तव्यं कारयितव्यं च ॥ एतेषामेव श्रवणं कर्तव्यमिति ॥[1]

इस लेख का कुछ पाठ हमने स्थूलाक्षरों में मुद्रित किया है। उस से ज्ञात होता है कि संवत् १९२३ के प्रारम्भ से पहले ही श्री स्वामीजी मूर्तिपूजा का खण्डन करने लग पड़े थे। इस विषय में उन्होंने श्री स्वामी विरजानन्दजी की सम्मति अवश्य ली होगी। वस्तुतः वे मथुरावास के दिनों से मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं रखते

१. हमने इस 'भागवत-खण्डन' ग्रन्थ को बड़े परिश्रम से प्राप्त करके छपवाया था। रा० ला० क० ट्रस्ट से यह प्राप्य है। यु० मी०

थे।[1] इसका खुला खण्डन उन्होंने आगराबास से आरम्भ किया। हां संवत् १९२३ के आरम्भ तक श्रीमद्भागवत के अतिरिक्त ये दूसरे पुराणों को परम्परागत विश्वास के कारण श्रवणमात्र से ही प्रामाणिक मानते थे। यह पूर्वमुद्रित लेख से स्पष्ट ही है।

वर्तमान पुराणों का परित्याग क्यों किया गया

इस के कुछ दिन पश्चात् ही श्री स्वामीजी ने वर्तमान पुराणों का खण्डन भी आरम्भ कर दिया। संवत् १९२६ में प्रामाणिक ग्रन्थों का जो विज्ञापन (पूर्ण संख्या २२) कानपुर में दिया गया, उस में पुराणों का नाम नहीं है। इस पवित्र भारतभूमि पर जो भी धर्माचार्य मूर्तिपूजा के खण्डन में अग्रसर होगा, उसे पुराणों का परित्याग करना ही पड़ेगा। पुराणों में **'घुणाक्षरन्याय'** से कई बातें सच्ची मानकर भी ऋषि दयानन्द सरस्वती को इन का खण्डन करना पड़ा।[2] पुराण ही मूर्तिपूजा का मूल हैं। स्वामीजी की असाधारण दृष्टि और उनके सूक्ष्म अध्ययन ने सहसा देख लिया कि मूर्तिपूजा और वेदविरुद्ध समस्त सम्प्रदायों का मूल, वर्तमान पुराण ग्रन्थ ही हैं। उस समय श्री स्वामी जी ऋषि पदवी की ओर जा रहे थे। उन्हें यह ज्ञान बहुत आरम्भ में हो गया। उन का सब से पहला उपलब्ध लेख इसीलिए महत्त्व का है कि इस से हमें विदित होता है कि ऋषि के जीवन में विचार-धारा का विकास कैसे हुआ।

जब श्री स्वामीजी मथुरा से पढ़ कर निकले तो वे कतिपय पुराणों को मानते थे। इन पुराणों का अध्ययन करने और उनका वेद से गम्भीर सन्तोलन करने पर उन्हें पता लगा कि वर्तमान पुराण ऋषियों से प्रयुक्त किये गये पुराण शब्द के अन्तर्गत नहीं आ सकते। इन वर्तमान पुराणों का संकलन गत दो तीन सहस्र

---

१. श्री स्वामी जी के सहाध्यायी पं० युगलकिशोर जी कहते हैं कि 'एक दिन विद्यार्थी अवस्था में ही हमसे स्पष्ट कह दिया कि मूर्तिपूजा, कण्ठी, तिलक, छाप सब वर्जित है।' प० लेखराम कृत उर्दू जीवनचरित, पृ० २७।

२. सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास—पुराणखण्डन प्रकरण।

वर्ष में ही हुआ है। अतः इन में अधिकांश बातें वेदविरुद्ध दिखाई दीं। उस काल में पण्डित लोग इन वेदविरुद्ध बातों को पुराणों से ही सिद्ध करते थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती इस बात को सह नहीं सके और उन्होंने इन पुराणों का सर्वथा परित्याग कर दिया। इस विषय में भी उनका श्री विरजानन्द जी से विचार विनिमय हुआ ही होगा, पर नहीं कह सकते किस रूप में।

पत्र कितनी भाषाओं में लिखे गये

ऋषि दयानन्द सरस्वती संस्कृत और आर्यभाषा के ही पण्डित थे। गुजराती उन की मातृभाषा थी। उर्दू और अंग्रेजी से सर्वथा अनभिज्ञ थे। पर मिलते हैं उन के पत्र इन पांच भाषाओं में ही। उन के संस्कृत पत्र और विज्ञापन प्रायः शुद्ध रूप में हैं। संवत् १९२९ तक तो उन का सारा पत्रव्यवहार और सम्भाषण निश्चित ही संस्कृत में था। तत्पश्चात् संवत् १९३० में कलकत्ते से आकर उन्होंने आर्यभाषा में भी बोलना आरम्भ कर दिया। आर्यभाषा के पत्र उस समय आरम्भ हो गये होंगे। जो लोग संस्कृत अथवा आर्यभाषा नहीं जानते थे, उनके पत्रों का उत्तर भी श्री स्वामी जी आर्यभाषा में ही बोलते अथवा लिखवाते थे। फिर वह उत्तर उर्दू अथवा अंग्रेजी में अनूदित होकर भेजा जाता था। कर्नल आल्काट तथा मैडम ब्लेवेट्स्की के पत्र अंग्रेजी में अनुवाद करके भेजे जाते थे। गुजराती भाषा का एक पत्र इस संग्रह में पूर्ण संख्या ५३७ पर छपा है। वह पत्र श्री स्वामी जी की अनुमति से ही लिखा गया है। संभव है वह गुजराती भाषा भी श्री स्वामी जी की ही हो।

पत्र और विज्ञापनों में ऋषि के उज्ज्वल विचार

१—भारत की भाषा संस्कृत

अनेक पत्रों तथा विज्ञापनों में यह विषय अत्यन्त स्पष्ट मिलता है। उन पत्रों का तथा उनके अन्तर्गत वचनों का क्रमशः प्रदर्शन नीचे किया जाता है—

पूर्णसंख्या

[२२] वेदों का पढ़ना द्वितीय सत्य है।

[४०] इस आर्य-विद्यालय से ·······आर्यावर्त देश की उन्नति होगी।

[४१] (क) संस्कृत विद्या की ऋषि मुनियों की रीति से प्रवृत्ति करना।

(ख) सनातन संस्कृत विद्या का उद्धार।

(ग) आर्यावर्त देश की स्वाभाविक सनातन विद्या संस्कृत ही है। ·····उसी से इस देश का कल्याण होगा। अन्य भाषा से नहीं।

[९४] यदि वेद का ज्ञान [सारे देश में फैला दिया जाय तो भारत में से अज्ञानान्धकार·········· एक दिन नष्ट हो जायगा।

[१२९] वेदभाष्य का अनुवाद अंग्रेजी अथवा प्रान्तीय भाषा में नहीं होना चाहिए। ····

यदि अंग्रेजी अथवा उर्दू में वेदभाष्य का अनुवाद किया जायगा तो संस्कृत पढ़ने के प्रति जनता का उत्साह मन्द हो जायगा।

[१३०] (क) संस्कृत विद्या की उन्नति करनी चाहिए।

(ख) प्राचीन आर्षग्रन्थों के ज्ञान के विना किसी को संस्कृत विद्या का यथार्थ फल नहीं हो सकता।

[२८५]···जैसा···आर्यसमाजों के सभासद करते और कराना चाहते हैं कि संस्कृत विद्या के जाननेवाले स्वदेशियों की बढ़ती के अभिलाषी ··।

[२९३] मुझे यह सुनकर बहुत प्रसन्नता हुई है कि आप आर्य-संस्कृत-पाठशाला का यत्न कर रहे हैं। १६ मार्च १८७९।

[२९५] उन्होंने (ब्लेवेट्स्की और अलकाट ने) संस्कृत पढ़ने का आरम्भ किया है वा नहीं। १६ मार्च १८७९।

[३१०] आप के संस्कृत पाठशाला खोलने का विचार सुन कर मुझे बहुत हर्ष है। २४ एप्रिल १८७६।

[३३१] कल्पना करो कि इन सब का सन्तोषजनक प्रबन्ध हो भी जाय; परन्तु इससे सब से बड़ी हानि यह होगी कि मेरे वेदभाष्य के अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित होने पर भारतीय आर्य संस्कृत और भाषा को पढ़ना छोड़ देंगे, जिसे कि वे आर्य वेदभाष्य को समझने के लिये आजकल उत्साह के साथ पढ़ रहे हैं और यही मेरा मुख्य उद्देश्य है।

[५७५] इस पाठशाला में अधिक संस्कृत की उन्नति पर ध्यान रहना चाहिये और इसमें केवल लड़के ही पढ़ते हैं अथवा हमारे रईस लोगों में से भी कोई पढ़ता है ?

[५७७] आप लोगों की पाठशाला में आर्यभाषा संस्कृत का प्रचार बहुत कम और अन्य भाषा अर्थात् अंग्रेजी व उर्दू फारसी अधिक पढ़ाई जाती है। इससे वह अभीष्ट जिसके लिए यह शाला खोली गई है, सिद्ध होता नहीं दीखता। वरन् आपका यह हजारह मुद्रा का व्यय संस्कृत की ओर से निष्फल होता भासता है। ......आप लोग देखते हैं कि बहुत काल से आर्यावर्त में संस्कृतविद्या का अभाव हो रहा है, वरन् संस्कृत रूपी मातृभाषा की जगह अंग्रेजी लोगों की मातृभाषा हो चली है। ....हमारी अति प्राचीन मातृभाषा संस्कृत जिसका सहायक वर्तमान में कोई नहीं है .....।

[५७६] ....संस्कृत की उन्नति होनी, सो इस पर अच्छे प्रकार ध्यान रहे।

[५८१] इस पाठशाला में मुख्य संस्कृत जो मातृभाषा है उसको ही वृद्धि देना चाहिये।

[७६१] तुम्हारी पाठशाला में अलिफ बे और कैट बैट का भर्मार है, जो कि आर्यसमाजों को विशेष कर्तव्य नहीं है।

[७२६] ७—सदा सनातन वेद शास्त्र, आर्यराज, राजपुरुषों की नीति पर निश्चित रहकर उनकी उन्नति तन मन

> धन से सदा किया करें। इससे विरुद्ध भाषाओं की प्रवृत्ति वा उन्नति न करें वा करावें। किन्तु जितना दूसरे राज्य के सम्बन्ध में, यदि वे इस भाषा को न समझ सकें, उतने ही के लिये उन-उन भाषाओं का यत्न रखें, जो वह प्रबल राज्य हो।

पूर्वोद्धृत वचनों में संस्कृत के प्रति ऋषि दयानन्द सरस्वती के उद्गारों का स्पष्ट चित्र दृष्टिगोचर होता है। श्री स्वामीजी के अनुसार—

(क) संस्कृत भारत की मातृभाषा है। अथवा आर्यावर्त की स्वाभाविक सनातन विद्या संस्कृत ही है।

(ख) संस्कृत पढ़ कर सब आर्यावर्तीय लोगों को आर्षग्रन्थों का अभ्यास करना चाहिये।

(ग) वर्तमान काल में संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेजी आदि भाषाओं पर आर्यसमाज का धन व्यय नहीं होना चाहिये।

(घ) आर्य राजाओं को संस्कृत की ही उन्नति करनी चाहिए, उन्हें अपने राज्यों में संस्कृत से विभिन्न भाषाओं का आदर मान न करना चाहिए।

(ङ) संस्कृत से ही भारत और मनुष्य-मात्र का कल्याण होगा।

(च) अंग्रेजी लोगों की मातृभाषा हो चली है! इस का प्रतिकार करना चाहिए।

आर्यसंस्कृति के इस सर्वथा विद्वेषी भयानक काल में, आर्यसंस्कृति के अनन्य भक्त ऋषि दयानन्द सरस्वती के संस्कृतभाषा सम्बन्धी ये उद्दाम विचार अत्यन्त स्पष्ट हैं। इन विचारों में एक अपरिमित शक्ति, एक प्रबल प्रवाह, और एक अनुपम रस है। इन्हीं गम्भीर और पूर्ण सत्य विचारों की छाया ऋषि दयानन्द सरस्वती रचित ग्रन्थों में भी दृष्टिगत होती है। भारत और भारतीय संस्कृति के उद्धार के निमित्त ये सत्य विचार वर्तमान भारत के किसी भी सुधारक या नेता को नहीं सूझे। इन विचारों को श्री मोहनदास कर्मचन्द गांधी और श्री जवाहरलाल भी प्रकट

नहीं कर सके। वे ऐसा करें भी कैसे। वे तो संस्कृतभाषा के वैभव से अनभिज्ञ हैं और वेदविद्या-विहीन हैं। वे भारतीय तत्त्व को नहीं समझते।

श्री गांधी जी ने एक दो स्थानों पर लिखा है कि प्रत्येक हिन्दू को संस्कृत पढ़नी चाहिये। परन्तु यह उनका कथन मात्र ही रहा है। उनका स्वीकृत किया हुआ उत्तराधिकारी श्री जवाहरलाल संस्कृत-ज्ञान-शून्य है। उनके अधिकांश अन्य साथी भी संस्कृत से विमुख हैं। इसके साथ यह भी विचारणीय है कि जो भाषा व्यवहार में नहीं आती, वह मृतप्राय: हो जाती है। इसलिये व्यवहार में 'हिन्दुस्तानी भाषा' को प्रचरित करनेवाले श्री गांधी जी संस्कृत को मृतप्राय ही बनावेंगे। उनका कहना कथनमात्र रहेगा। यदि वे सत्य से थोड़ा सा भी प्रेम रखते हैं तो उन्हें निज हठ छोड़कर यह मानना चाहिये कि भारतीयों के लिए संस्कृत पढ़ना ही आवश्यक नहीं, प्रत्युत संस्कृत को शिष्टव्यवहार की भाषा बनाना भी भी आवश्यक है। अत: श्री गांधी जी को ऋषि दयानन्द सरस्वती का अनुकरण करना चाहिये।

ऐसी अवस्था में अंग्रेजी शिक्षा प्रभावित पाश्चात्य विचार का उच्छिष्टभोजी, भारतीय इतिहास और संस्कृति का अणुमात्र ज्ञान न रखनेवाला एक भोला भारतीय नवयुवक प्रश्न करता है—

(प्रश्न) क्या भारत की भाषा कभी संस्कृत भी रही है।

(उत्तर) सतयुग में भूतल के सब मनुष्यों की भाषा संस्कृत थी। वह संस्कारहीन नहीं थी। व्याकरण आगम के महान् पण्डित भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड के अन्त में स्वोपज्ञ वृत्ति में लिखा है—श्रूयते पुराकल्पे स्वशरीरज्योतिषां मनुष्याणां यथैव-अनृतादिभिरसंकीर्णा वागासीत तथा सर्वैरप्यक्षरैः। गत जल-प्लावन के पश्चात् और इस सतयुग के आरम्भ में प्रथम उपदेश-कर्त्ता तथा वक्ता श्री ब्रह्मा जी ने वेद और समस्त शास्त्रों का उपदेश कर दिया। शास्त्रों का उपदेश संस्कृत में था। वे शास्त्र सम्पूर्ण उपयोगी ज्ञान का भण्डार थे। उनकी शब्दराशि विपुल थी। संसार की समस्त भाषाएं उसी विपुल शब्दराशियुक्त संस्कृत का प्राकृत अथवा अपभ्रंश रूपमात्र हैं। ब्रह्मा जी =आदम

(आत्मभू) द्वारा उपदिष्ट ज्ञान मनुष्य मात्र का एकमात्र आश्रय था। तब सारी सृष्टि ब्राह्मणरूप थी। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएं सतयुग के पश्चात् त्रेता से बनने लगीं।[1]

भाषा-परिवर्तन विषयक योरुपीय मत कि बोलियों (dialects) से भाषा (Language) बनती है, सर्वत्र लागू नहीं होता। यह इतिहासविरुद्ध है। इसके विपरीत संकुचित होकर भाषाओं से बोलियां बनीं, यह तथ्य भारतीय इतिहास से सिद्ध है। संस्कृत भाषा से ह्रास होते-होते पंजाबी आदि बोलियां बनीं, यह निर्विवाद है।

द्वापरान्त अर्थात् भारतयुद्ध-काल में भारतयुद्ध में भाग लेने वाले राजगण भी जब वेदविद्यायुक्त थे, तब संस्कृत की बात ही क्या। देखिए—

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः। उद्योगपर्व १४६।६॥
वेदाध्ययनसंपन्नाः सर्वे युद्धाभिनन्दिनः। भीष्मपर्व १।४॥

कलियुग के कई सौ वर्ष जाने पर भी भारत की भाषा संस्कृत ही थी। आचार्य यास्क, जो भारत युद्ध के ३०-५० वर्ष पश्चात् हुआ, संस्कृत को ही भाषा अर्थात् बोल-चाल की भाषा लिखता है—

इवेति भाषायां च अन्वध्यायं च। निरुक्त १।४॥
नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्।
उभयम् अन्वध्यायं विचिकित्सार्थीयश्च पादपूरणश्च। निरुक्त १।५॥

आचार्य पाणिनि भी जो भारतयुद्ध के २५० वर्ष पश्चात् हुआ, संस्कृत को ही भाषा लिखता है—

भाषायां सदवसश्रुवः। ३।२।१०८॥
सख्यशिश्वीति भाषायाम्। ४।१।६२॥

भारतयुद्ध के लगभग १३०० वर्ष पश्चात् भारतभूमि पर

---

१. इस विषय का सप्रमाण विस्तृत वर्णन हमारे रचे भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग प्रथम में है।

तथागत बुद्ध और जैन तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी का प्रादुर्भाव हुआ। इन आचार्यों ने सर्वप्रथम प्राकृत का आश्रय विशेष लिया। यह बात सकारण थी। अधिकांश विद्वान् लोग इन की बात न सुनते थे। अतः इन आचार्यों ने निम्नश्रेणी के मूर्ख लोगों को अपना सन्देश देना आरम्भ किया। वह सन्देश स्वभावतः प्राकृत में था।[1] परन्तु इन आचार्यों के उत्तराधिकारी भी प्राकृत को सदा के लिये अपना नहीं सके। उन्हें भी कालान्तर में संस्कृत का ही आश्रय लेना पड़ा। संस्कृत के इस पुनरुद्धार का युग शुङ्ग और गुप्त महाराजाओं का युग था। इन में से श्री चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य साहसाङ्क ने तो भारत को पुनः संस्कृतभाषा-भाषी बना दिया। इसका साक्ष्य भोजराज के निम्नलिखित वचन में मिलता है—

काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः।

सरस्वतीकण्ठाभरण अलंकार।

इन सम्राटों के शिलालेख भी काव्यमयी संस्कृत में हैं। इससे प्रमाणित होता है कि तब संस्कृत का प्रचार एक बार पुनः बहुत वृद्धि को प्राप्त हो गया था।

गुप्त सम्राटों के काल से लेकर दिल्लीपति महाराज पृथ्वीराज के काल तक के शतशः ताम्रपत्र उत्तर भारत में मिल चुके हैं। उन सब की भाषा संस्कृत ही है। गुप्तों से स्थाण्वीश्वरपति महाराज हर्षवर्धन तक संस्कृत भाषा का पूरा प्राबल्य था। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएं प्रचलित तो थीं, पर साम्राज्य संस्कृत का ही था। चीनी यात्री ह्यूनत्सांग को, जो हर्षवर्धन के काल में भारत-भ्रमण कर रहा था, नालन्दा में रहकर संस्कृत-अध्ययन करना पड़ा। उसके कुछ काल पश्चात् चीनी यात्री इत्सिंग भारत में

---

१. छठी शताब्दी विक्रम के जैन आचार्य श्री हरिभद्र सूरी ने एक पुराना पद्य दशवैकालिक टीका पृ० १०१ पर उद्धृत किया है—

बाल-स्त्री-मूढ-मूर्खाणां नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः स्मृतः॥

अर्थात् बाल, स्त्री और मूढ़ों के लिए जैन सिद्धान्त प्राकृत में दिया गया।

आया। उसने तत्कालीन संस्कृत अध्ययनाध्यापन-प्रणाली का एक स्पष्ट चित्र अपने ग्रन्थ में खींचा है। उसके चिर-अनन्तर अर्थात् पृथ्वीराज के काल तक भी संस्कृत ही भारत की भाषा रही।

फिर भारत पर मुसलमानों का आक्रमण आरम्भ हुआ। ये लोग प्रायः विद्या-द्वेषी रहे हैं। इन्होंने ही सिकन्दरिया का योरुप-विख्यात पुस्तकालय जलाया था। इन्होंने उत्तर भारत के अनेक पुस्तक-भण्डार नष्ट किये। उस समय भारतीय जातीयता रुग्णावस्था में थी। कोई योग्य चिकित्सक उस रोग का निदान और औषध करनेवाला नहीं हुआ। अतः बहुत काल तक तो दिल्ली आदि का ही प्रदेश और फिर मुगलकाल से देश का अधिकांश भाग मुसलमानों के अधीन हो गया, पर आर्यसंस्कृति की थोड़ी सी रक्षा यहां के ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि करते ही रहे। उस दयनीय काल में फारसी का प्रचार बहुत बढ़ा। उस दुःखद अवस्था को देखकर वीराग्रगण्य श्री गुरु गोविन्दसिंह जी ने भी निम्नलिखित पद में निराशा ही प्रकट की—

म्लेच्छ भाख जब सब पढ़ गए।
सुमारग छोड़ कुमारग पए॥

गत दो सौ वर्ष से अंग्रेजी शासन भारत पर होने लगा। उस का प्रभाव दिन-दिन अधिक हुआ। मुसलमानी शासन ने तो राजनीतिक दासता ही दी थी, पर अंग्रेजी शासन ने मानसिक दासता भी उत्पन्न की। आर्यजाति का रोग बढ़ता ही गया। ऐसी दीन-हीन दशा में अंग्रेजी शासनकाल में संस्कृतभाषा पर सबसे अधिक कुठाराघात हुआ। इसी महान् विपत्तिकाल में जिस बात को राजा राममोहन राय, श्री केशवचन्द्र सेन, श्री गोपालकृष्ण गोखले आदि भी न समझ पाए और जिसे श्री मोहनदास कर्मचन्द गांधी और श्री जवाहरलाल अब भी अनुभव नहीं कर रहे, वही बात, हां भारतीय रोग की चिकित्सा का वही एक मूल मन्त्र ईश्वर ने एक ऐसे व्यक्ति के लिये रख छोड़ा था, जिस पर अंग्रेजी भाषा का अणु मात्र प्रभाव नहीं पड़ा था। उसी महापुरुष और भारतीय सामाजिक, मानसिक और राजनीतिक दुःसाध्य रोग के सच्चे चिकित्सक दयानन्द सरस्वती ने पुनः यह बात जगाई, उसी बाल ब्रह्मचारी

ने अपना सिंहनाद किया कि भारत की एकमात्र भाषा संस्कृत ही है।

(प्रश्न) यह सब सत्य है, पर इतनी समस्या अवश्य है कि संस्कृत नाटकों में देवियों के कथोपकथन प्राकृत में क्यों लिखे गए हैं। भारतयुद्ध-काल से बहुत पूर्व के भरत मुनि ने भी रूपक के वर्णन में यही मत स्वीकार किया है।

(उत्तर) जिस प्रकार वर्तमान काल में इङ्गलेण्ड देश की साहित्यिक भाषा एक विशेष प्रकार की अंग्रेजी है, जिसे वहां का केवल शिष्ट समाज ही बोलता है और जन-साधारण की व्यवहार की भाषा गोराशाही अंग्रेजी कहाती है, ठीक उसी प्रकार त्रेता युग से भारत में संस्कृत भाषा की दशा रही है। भारत की अधिक जनता शिष्ट थी, अतः यहां साहित्यिक संस्कृत का बहुत प्रचार था, परन्तु निम्न श्रेणी के लोग और प्रायः देवियां उच्चकोटि की शिष्ट-भाषा नहीं बोल सकती थीं। अधिकांश कन्याओं का विवाह लगभग पन्द्रह, सोलह वर्ष की अवस्था में हो जाता था। इस कारण उनका अध्ययन थोड़ा रहता था। रूपकों में भी अप्सराओं की भाषा संस्कृत ही रखी गई है। सुलभा, मैत्रेयी और गार्गी आदि सदृश अल्पसंख्यक देवियां साहित्यिक संस्कृत बोलती थीं। इसीलिये भारतीय नाटककारों ने उन के लिए भी संस्कृत भाषा का स्थान रखा है। पदवाक्यप्रमाणज्ञ भवभूतिविरचित उत्तररामचरित में आत्रेयी और वासन्ती तथा उन्हीं के मालतीमाधव में कामन्दकी आदि देवियां संस्कृत बोलती थीं। परन्तु अन्य देवियां साहित्यिक संस्कृत भाषण में इतनी कृतश्रम न होती थीं। अल्प अध्ययन के कारण उनका संस्कृत शब्दों का उच्चारण दोषयुक्त हो जाता था। उनकी यही अपरिमार्जित और उच्चारण-दोषबहुला संस्कृतभाषा ही प्राकृतभाषा बनी। इसीलिए पुरातन नाटकों में निम्नश्रेणी के लोगों की और प्रायः स्त्रियों की भाषा प्राकृत रही है।

संस्कृत नाटकों में स्त्रियों आदि की भाषा प्राकृत होने का एक और भी कारण है। भारतीय नाटक नट और नटियों द्वारा ही खेले जाते थे। स्त्री पात्राओं का अभिनय स्त्रियां ही करती थीं। नट श्रेणी की स्त्रियां अर्थात् नटियां शिष्ट संस्कृत में कृताभ्यासा न

होती थीं। वे बाल्यावस्था से ही गृहकार्य के अतिरिक्त अभिनय का काम करने लग पड़ती थीं। अतः उच्च संस्कृताध्ययन की न तो उनकी रुचि रहती थी और न उन्हें उसकी अधिक सुविधा थी। संस्कृत-भाषण करते हुए वे अशुद्धियां न करें; इसलिए भी सामान्य रूप से स्त्री-पात्रों की भाषा प्राकृत ही हो गई। जब नटियों में से आत्रेयी आदि का अभिनय करनेवाली संस्कृत भाषा-भाषण-समर्थ नटियां खोजी अथवा शिक्षित की जाती थीं, तो पर्याप्त कष्ट होता था। अतः संस्कृत नाटकों में आत्रेयी आदि सदृश स्त्रीपात्राएं न्यून हैं। इतने पर भी यह निश्चित है कि जन-साधारण और देवियां भी संस्कृत समझने में पूर्ण समर्थ थीं। अतः भारत की एकमात्र भाषा संस्कृत ही रही है, इस में किंचित् भी सन्देह नहीं। इङ्गलेण्ड में लाखों श्रमजीवी और ग्रामीण स्त्रियां गोराशाही अंग्रेजी ही बोलते हैं, पर इङ्गलेण्ड की भाषा अंग्रेजी ही है, ऐसा कहने में कोई संकोच नहीं। फिर भारत की भाषा संस्कृत थी, ऐसा कहने में कोई संकोच क्यों करे।

(प्रश्न) योरुप के भाषा-अनुशीलन-कर्त्ताओं का मत है कि संस्कृत तथा वेद-वाक् से पूर्व एक अन्य अति प्राचीन भाषा थी, जिस से पुरानी फारसी, ग्रीक और संस्कृत आदि भाषाएं निकली हैं। फिर कैसे माना जाए कि सतयुग में संस्कृत सारे भूमण्डल पर के मनुष्यों की भाषा थी।

(उत्तर) यह मत पक्षपात युक्त है। वेद वाक् तो आकाशी ऋषियों और देवों (प्राणों, मरुतों, अग्नि और विद्युत् आदि शक्तियों) द्वारा उस समय उत्पन्न हो चुकी थी, जब न पृथ्वी सृजी गई थी और न उस पर रहनेवाले मनुष्य। वही दैवी वाक् मनुष्य और ऋषियों की उत्पत्ति के समय ऋषियों में ईश्वर-प्रेरणा से प्रविष्ट हुई। ऋषियों ने उस श्रुति को सुना। तब उस दैवी वाक् का सब को उपदेश दिया गया। इस विषय की विस्तृत व्याख्या और विकासमतानुयाईयों के सम्पूर्ण कुतर्कों का खण्डन अन्यत्र करेंगे।[1]

---

१. इस के लिये हमारा वैदिक वाङ्मय का इतिहास प्रथम भाग 'वेद' और उसकी शाखायें' का प्रथम अध्यायदेखें। इसका नूतन परिवर्धित संस्करण छप रहा है।

(प्रश्न) भारत में संस्कृत तथा आर्षग्रन्थ प्रचार की जो उद्दाम तरङ्ग ऋषि दयानन्द सरस्वती ने उत्पन्न की थी, उसे ऋषि-स्थापित आर्यसमाज स्थिर क्यों नहीं रख सका।

(उत्तर) आर्यसमाज के प्रारम्भिक काल के जो कार्यकर्त्ता थे, उन्हें तो संस्कृत-महत्त्व का कुछ ज्ञान था। पं० गोपालराव हरि देशमुख जज, पं० गोपालराव फरुखाबादी, पं० गुरुदत्त, ला० हंसराज और ला० मुंशीराम आदि कार्यकर्त्ताओं ने संस्कृत का अभ्यास किया।

इन में से पहले दो महाशय संस्कृत के अच्छे पण्डित थे। पं० गुरुदत्त के संस्कृत-प्रेम की कोई सीमा न थी। ला० हंसराज और ला० मुंशीराम ने संस्कृत का थोड़ा-थोड़ा अभ्यास किया। इन से अतिरिक्त इनके कुछ उत्तरकालीन आर्य प्रचारक स्वामी अच्युतानन्द, स्वामी दर्शनानन्द, पण्डित गणपति शर्मा, पं० आर्यमुनि, पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ और पं० रुद्रदत्त जी आदि संस्कृत के अच्छे पण्डित थे। परन्तु ये महाशय आर्यसमाज की संस्थाओं और समाजों आदि के प्रबन्धक न थे। पंजाब के कालेज अथवा गुरुकुल दल में ला० हंसराज और ला० मुन्शीराम जी के पश्चात् जितने भी प्रबन्धक और अधिकारी हुए अथवा हैं, वे सब अंग्रेजी-प्रभाव-प्रभावित-संस्कृत-ज्ञान-शून्य धनार्थी लोग हैं। यदि इन में कुछ दिन के लिये कभी कोई संस्कृतज्ञ, ऋषिभक्त हुआ भी है, तो उसे घुणाक्षरन्याय का फल समझना चाहिये। इन अंग्रेजी और उर्दू के उच्छिष्टभोजी लोगों को संस्कृत से क्या प्रेम हो सकता है। संयुक्त प्रान्त आदि में भी आर्यसमाज के कार्य प्रबन्धकों की प्रायः यही अवस्था है। इसीलिए दुःख से कहना पड़ता है कि अपने अनुगामियों के विश्वास शून्य होने के कारण ऋषि की उत्पन्न की हुई तरंग का वेग मन्द सा पड़ रहा है।

(प्रश्न) कालेज दल तो अपने अंग्रेजी स्कूलों के जाल के कारण उसी में फंसा हुआ संस्कृत का प्रेम खो बैठा था, क्या गुरुकुल दल भी वैसा ही हो गया है ?

(उत्तर) हां, गुरुकुल दल भी अब वैसा ही हो रहा है। जिस प्रकार दयानन्द कालेज प्रबन्धकर्तृ सभा के अनेक प्रधान और

सदस्य संस्कृत न जानने के कारण संस्कृत-प्रेम से वस्तुतः रिक्त हुए हैं वैसे ही बहुत दिन से अब गुरुकुल दल की भी अवस्था हो रही है। गुरुकुल दल में से महात्मा मुंशीराम जी का धक्का समाप्त हो चुका है। गुरुकुल दल की सभा में संस्कृत-ज्ञान रखनेवाले जो दो-चार सदस्य हैं, उनकी बात कोई सुनता नहीं। इसका फल स्पष्ट है। गुरुकुल की पाठप्रणाली पूरी सफल नहीं हो सकी। गुरुकुल के अनेक संचालकों को गुरुकुल में विश्वास न रहा था। उन्होंने अपने पुत्र, पौत्र, वहां नहीं पढ़ाये। गुरुकुल के अनेक उपाध्याय अपने पुत्रों को अंग्रेजी कालेजों में पढ़ाते रहे हैं और अब तो ऐसे लोगों की संख्या इस दल में वृद्धि पर ही है। आचार्य रामदेव जी यद्यपि संस्कृत के पण्डित न थे, पर इनकी अटूट ऋषि-भक्ति के दिन भी अब गये। अब तो गुरुकुल दल भी अपने स्कूलों द्वारा पाश्चात्य सभ्यता की जड़ों को दृढ़ करने का एक साधन-मात्र बन गया है।

(प्रश्न) ऐसी निराशामयी निशा में, अन्धकार की इस घोर रात्रि में, स्वार्थ की इस प्रवृद्धा रजनी में क्या कहीं त्याग, उत्साह और ज्ञान की आशारश्मि दृष्टिगत हो सकती है? क्या संस्कृत भाषा पुनर्जीवित हो जाएगी।

(उत्तर) हां आशारश्मि दिखती है। पर उस के सूर्य का उदय भगीरथ-प्रयत्न के अनन्तर ही होगा। संस्कृत पुनर्जीवित होगी, ऐसा हमारा अटल विश्वास है। ऋषि के चरणचिह्नों पर चलते हुए इस जन्म का गत भाग हमने इसी निमित्त अर्पण किया है। हमारा निश्चय है कि संस्कृत भारत की भाषा है, और भारत इसे अपनायेगा। दासता की शृङ्खला में शृङ्खलित भारतीय अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी का चाहे कितना ही पक्ष कर लें, पर एक बार तो आर्य-वैभव दृष्टिगोचर होगा और शीघ्र होगा। इस के लिए निम्नलिखित उपाय करने होंगे—

१. प्रत्येक आर्यसमाज के सब अधिकारी श्रेष्ठ संस्कृत-ज्ञान-युक्त होने चाहियें।

२. आर्यसमाजों का लेख आदि का सब काम संस्कृत-मिश्रित आर्यभाषा में होना चाहिये।

३. आर्यप्रतिनिधि सभाओं के समस्त सदस्यों को संस्कृत बोलने का अभ्यास होना चाहिये ।

४. सार्वदेशिक सभा के सब सदस्य संस्कृत के विद्वान् होने चाहियें ।

५. आर्यसमाज का उपदेशक-मण्डल संस्कृत और आर्ष ग्रन्थों का प्रौढ़ पण्डित होना चाहिये ।

६. पूर्वोक्त पांच बातों को चलाने के लिये परोपकारिणी सभा अथवा सार्वदेशिक सभा को संस्कृत और आर्षविद्या की कुछ परीक्षाएं चलानी पड़ेंगी । विशेष परीक्षाओं में उत्तीर्ण भाई ही आर्यसमाजों के अधिकारी आदि बनेंगे । इससे वृथा कलह भी थोड़ी सी शान्त हो जायगी और पदलिप्सु लोग आर्यसमाज के सेवक रह सकेंगे, अधिकारी नहीं ।

७. आर्यसमाज को वे सब संस्थायें तत्काल बन्द कर देनी चाहियें, जो छः घण्टे के अध्यापन में ३ या ४ घण्टे संस्कृत और आर्ष ग्रन्थ नहीं पढ़ातीं ।

८. यदि वर्तमान अधिकारी ऐसी संस्थाओं को बन्द न करें, तो किसी भी आर्य-पुरुष को ऐसी संस्था को भविष्य में एक कौड़ी भी दान न देना चाहिये ।

९. आर्यसमाज और समस्त भारतीय आर्यों को यह राजनीतिक आन्दोलन करना चाहिये कि भारत की भाषा संस्कृत है ।

१०. परोपकारिणी सभा को वैदिक यन्त्रालय में अन्य सब मुद्रण काम बन्द करके आर्ष ग्रन्थ और श्री स्वामीजी के ग्रन्थ ही छापने चाहियें । इन ग्रन्थों का मूल्य अत्यल्प रखना चाहिये ।

११. भारत में न्यून से न्यून एक सहस्र संस्कृत पुस्तकालय स्थापित होने चाहियें । उनमें संस्कृत के समस्त ग्रन्थ संगृहीत होने चाहियें । जो-जो नए ग्रन्थ छपते जाएं । वे भी तत्काल वहां मंगाये जायें ।

१२. आर्यसमाज और आर्यमात्र की शिक्षा के लिये केवल संस्कृत विद्यालय ही खोलने चाहिएं । पुरातनकाल में यह काम आर्य

राजाओं की सहायता से होता था। उन के दान के शासन-पत्र इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं। अब यह काम भारतीय जनता को करना होगा।

१३. भारत के देशी राज्यों की जहां और त्रुटियां दूर करनी होंगी वहां उन राज्यों में से अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व को दूर कराना भी एक आवश्यक अभीष्ट हो रहा है। इन राज्यों के कार्यालयों में सब व्यवहार संस्कृत और आर्यभाषा में कराने चाहियें। इन में आयुर्वेद के ही आतुरालय होने चाहियें। वहां सैकड़ों लोग आयुर्वेद पढ़ने के लिये भी संस्कृत पढ़ेंगे।[1]

१४. इस सतयुग के आदि में श्री ब्रह्माजी ने संस्कृत में ही समस्त विद्याओं का उपदेश दिया। उन सब विद्याओं का अब भी उद्धार हो सकता है। इसके लिये वैदिक अनुसन्धान के अनेक बृहत् केन्द्र स्थापित होने चाहियें। उनके अध्यक्ष और कार्यकर्त्ता वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, इतिहास, प्राचीन और नवीन भूगोल तथा पश्चिमीय लेखकों द्वारा उत्पन्न किये गये सब पूर्व-पक्षों के विशेषज्ञ होने चाहियें।

१५. लाखों रुपये व्यय करके भारत के उन घरों की खोज करनी चाहिए जहां अब भी अलभ्य हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थ सुरक्षित हैं। उन ग्रन्थों को एकत्र और सुसम्पादित करके शीघ्र मुद्रित करना चाहिये।

१६. भारतीय जनता को किसी ऐसे व्यक्ति को अपना धार्मिक या राजनीतिक नेता नहीं बनाना चाहिये, जो संस्कृतविद्या-सम्पन्न आर्यशास्त्रप्रवीण और आस्तिक अर्थात् वेद-विश्वासी न हो। ब्रह्मा जी, कपिल, सनत्कुमार, कृष्णद्वैपायन वेदव्यास, उद्योतकर, कुमारिल भट्ट, शङ्कराचार्य दयानन्द सरस्वती आदि हमारे धार्मिक नेता हुए हैं। ब्रह्माजी, स्वायंभुव मनु, वैवस्वत मनु, इक्ष्वाकु,

---

१. अब ये देशी-राज्य भारत-शासन में विलीन हो चुके हैं। अतः सम्पूर्ण भारत में समान उपाय ही वर्तने चाहियें। भारत-शासन आयुर्वेद के प्रति उपेक्षादृष्टि कर रहा है। यह इसके तत्सम्बन्धी संचालकों के महान् अज्ञान का निदर्शनमात्र है।

ययाति, मान्धाता, भरत चक्रवर्ती, दाशरथि राम, देवकीपुत्र कृष्ण समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य और दयानन्द सरस्वती आदि हमारे राजनीतिक नेता हो चुके हैं। ये सब महात्मा, महानुभाव संस्कृत के पण्डित थे। वे ही आर्यावर्त के यथार्थ पथ-प्रदर्शक थे।

१७. उत्तर भारत की प्रान्तीय-भाषाओं यथा—पञ्जाबी, मारवाड़ी, गुजराती, मराठी और बंगाली आदि में जो अर्बी, फारसी और अंग्रेजी आदि के व्यर्थ शब्द सम्मिलित हो गये हैं, उन्हें प्रयोग में नहीं लाना चाहिए। उदाहरणार्थ—अगर, रब्ब, बरकत, काफी, बिल्कुल, मगर, लेकिन, टाईम, लैकचर आदि शब्दों का बहिष्करण होना चाहिये।

(प्रश्न) विदेशी भाषाओं के जो शब्द हमारी व्यावहारिक भाषाओं का अङ्ग बन गए हैं, उन्हें बाहर निकालना व्यर्थ है। अब तो वे हमारे हो गये हैं।

(उत्तर) जिस प्रकार नख और केश हमारे शरीर के अङ्ग-सङ्ग होते हैं और हमारे शरीर में ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं, तथापि उन्हें निरर्थक समझ कर हम समय-समय पर उनका छेदन कराते रहते हैं, इसी प्रकार भारतीय दासता के काल में अपनी भाषा में मिले हुए विदेशी शब्दों का बहिष्कार बुरा ही नहीं, प्रत्युत पुण्य का कार्य है। जब हमारे पास यदि, ईश्वर, प्रथम, पर्याप्त, सर्वथा, परन्तु, समय और व्याख्यान आदि शब्द विद्यमान हैं, तो हम विदेशी अपभ्रंश के शब्दों का प्रयोग क्यों करें? हां, जो शब्द अभी वर्तमान संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध नहीं हुए, उन के स्थान में विदेशी शब्दों का प्रयोग कुछ काल के लिये कर लिया जाए तो इतनी हानि नहीं है। तनिक विचारो, यदि हम आर्य लोग संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग नहीं करेंगे, तो कौन करेगा? संस्कृत शब्दों का प्रयोग न करना तो मानव-जाति-द्रोह और भारत-देश-द्रोह करना है।

(प्रश्न) अनेक कथित आर्यसमाजी और श्री जवाहरलालजी आदि कांग्रेस-पक्षवाले कहते हैं कि आर्यभाषा में संस्कृत शब्दों की भरमार नहीं करनी चाहिये। क्या उनका कथन भी सङ्गत नहीं?

(उत्तर) हां, उनका कथन भी सङ्गत नहीं। उनका कथन तो भ्रान्तिपूर्ण है। उनके ऐसे कथन का कारण है, उनका पाश्चात्य शिक्षा की दासता में पलना। क्या संस्कृत आर्यजाति की भाषा नहीं है, क्या संस्कृत से भारत की सब भाषायें नहीं निकली हैं, क्या संस्कृत इस देश से सहस्रों वर्ष से सम्बद्ध नहीं रही है, क्या संस्कृत की इस दीन-हीन दशा में भी बीस सहस्र संस्कृत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो रहे, क्या पुरातन रीति पर चलनेवाले समस्त आर्य-परिवारों में विवाहसम्बन्धी साहे चिट्ठी अब भी संस्कृत में नहीं भेजी जातीं, क्या संस्कृत भाषा के स्रोत वेदमन्त्रों द्वारा ही सब आर्यों के संस्कार आदि नहीं होते', फिर जवाहरलाल जी आदि अंग्रेजी मात्र पढ़े-लिखे लोगों की संस्कृत से उदासीनता अज्ञानमात्र ही है। संस्कृत शब्द ही संसारमात्र की भाषाओं के मूल शब्द हैं, अतः म्लेच्छ=अव्यक्त तथा अपभ्रंश शब्दों के स्थान में संस्कृत-शब्दों का प्रयोग स्वर्ग का देनेवाला है।

१८. व्यवहार और व्यापार में संस्कृत के उन शब्दों का जो कभी प्रयोग में आते थे और अब विस्मरण से हो रहे हैं, पुनः प्रयोग आरम्भ करना चाहिये। धारा १४ में उल्लिखित अनुसन्धान केन्द्रों को ऐसे शब्दों की सूचियां समय-समय पर प्रकाशित करनी चाहियें।

इत्यादि कतिपय बातें यहां दिग्दर्शनमात्र लिख दी हैं। भारतीय उत्थान के इस अभूतपूर्व काम के लिये भगीरथ प्रयत्न करना पड़ेगा। पर प्रयत्न यदि एक बार हो जाये, तो फल अत्यन्त श्रेष्ठ होगा। दो सौ वर्ष तक भारत पर राज्य करने के अनन्तर अंग्रेजी शासक विस्मित होंगे कि उनका शासन निष्फल कर दिया गया

---

१. अभी-अभी गांधी जी ने एक विवाह अपने बनाए हुए 'हिन्दुस्तानी' वचनों द्वारा करवाया है (ट्रिब्यून, लाहौर, अगस्त २१, सन् १९४५)। इस से बढ़ कर वैदिक पद्धति की अवहेलना और नहीं हो सकती। आर्य मर्यादाओं के नाश का जो काम कभी मुगल राजा औरंगजेब भी न कर सका, वही काम अब गांधी जी पूरा करना चाहते हैं। परन्तु ऐसा कदापि न हो सकेगा। वे कहते हैं कि 'इस समय एक ही वर्ण अतिशूद्र अथवा हरिजन रहे।' (ट्रिब्यून, सितम्बर २०, सन् १९४५)।

है। उस समय संसार कहेगा कि ऋषि दयानन्द सरस्वती के अद्वितीय धक्के ने भारत को पुनः खड़ा कर दिया।

(प्रश्न) आर्यसमाजों के सदस्य और अधिकारीवर्ग संस्कृत पढ़ें, इस का कहां विधान है?

(उत्तर) पूर्व पृ० ४८ पर पूर्ण संख्या ४५५ के ऋषि के पत्र से एक वचन दिया गया है। उस में ऋषि कहते हैं—'पाठशाला में हमारे रईस लोगों में से कोई पढ़ता है?' इस का स्पष्ट तात्पर्य यही है कि आर्यसमाज के सदस्य और अधिकारी वर्ग संस्कृत अवश्य पढ़ें। इस से भी अधिक भावपूर्ण लेख उन के एक और पत्र में मिलता है—

'ऋग्वेदविषय छप गया। अब आप लोग पढ़ने-पढ़ाने का आरम्भ क्यों नहीं करते और मासिक भी अब छपकर आता है।' (पूर्ण संख्या ४५१)।

यह पत्र परोपकारिणी सभा के प्रथम मन्त्री ला० रामशरण दास जी रईस मेरठ को भेजा गया था। ऋषि दयानन्द सरस्वती की यह उत्कट इच्छा थी कि आर्यसमाज के लोग संस्कृत का पठन पाठन आरम्भ कर दें।

(प्रश्न) यह बात इस काल में असम्भव दिखाई देती है।

(उत्तर) त्याग और तपस्या के बिना कोई जाति अपने अस्तित्व को स्थिर नहीं रख सकती। यदि आर्यजाति सजीव रहना चाहती है, यदि आर्य संस्कृति की संसार को अब भी आवश्यकता है, यदि ईश्वरीय-ज्ञान वेद का संसार में प्रचार अभीष्ट है, यदि ऋषि ऋण से उऋण होने का दृढ़ संकल्प आर्यसमाज के हृदय में निहित है तो इस कथित-असम्भव को भी सम्भव करना ही होगा।

मनुष्य में आलस्य भाव अधिक है, अतः स्वयं आलस्य युक्त होने के कारण वह समझता है कि अमुक कार्य असम्भव है। पर यदि आलस्य का परित्याग करके उचित और निरन्तर परिश्रम किया जायगा तो निश्चय ही सिद्धि हस्तामलकवत् होगी।

७. वेदमहत्त्व और वेदभाष्य

ऋषि दयानन्द सरस्वती वेद को संसार का सब से बड़ा निधि समझते थे। उनके काल में वेद और वैदिक शिक्षा भारत से लुप्त

सी हो रही थी। इस त्रुटि को दूर करने के लिए ऋषि ने अनेक संस्कृत पाठशालाएं स्थापित कराईं। इन में वेदाध्यापन अनिवार्य था (पूर्ण सं० १०), परन्तु उनका वेदप्रचार का काम पाठशालाओं तक ही सीमित नहीं रहा।

वेदभाष्य का सूत्रपात—पत्र पूर्ण संख्या २५ पूना से लिखा गया है। उस की तिथि संवत् १९३२ श्रावण शुक्ला ८ मंगल लिखी है। इस पत्र में सब से प्रथम वेदभाष्य का उल्लेख है। तभी श्री महादेव गोविन्द रानडे आदि सज्जनों ने वेदभाष्य के निमित्त धन एकत्र करने का प्रयास किया।

इस संग्रह के अनेक पत्रों से ज्ञात होगा कि श्री स्वामी जी का अधिकांश समय वेदभाष्य के काय में ही व्यतीत होता था। यह काम उनके जीवन का मुख्य ध्येय बन गया था।[1] इस से अधिक प्रिय और पुनीत कर्म उनकी दृष्टि में और कोई नहीं था। वे चाहते थे कि मनुष्यमात्र वेद के अध्ययन में प्रवृत्त हो जाएं। वेद-ज्ञान के सम्बन्ध में फैलाई गई भ्रान्तियां संसार से दूर हों। विज्ञापन पूर्ण संख्या ३५ इसी महान् उद्देश्य से दिया गया था।

पहले ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका छपी। फिर ऋग्वेदभाष्य छपना आरम्भ हुआ। लाहौर से ६ जून १८७७ पूर्ण संख्या ४६ के पत्र में श्री स्वामी जी पं० गोपालराव हरि देशमुख को लिखते हैं—'मैं आप के परामर्श के अनुकूल करने का इच्छुक हूं और जैसा आप चाहते हैं, मैं शुक्ल यजुर्वेद का भाष्य आरम्भ करूंगा।' १४ मई १८७७ को श्री स्वामी जी ने पंजाब सरकार को वेदभाष्य की सहायता के लिए एक पत्र लिखा था।[2] यह पत्र अस्वीकार होना ही था। अगस्त में श्री स्वामी जी ने सरकारी पत्र का खण्डन किया।[3]

(प्रश्न) सरकार ने श्री स्वामी जी को सहायता क्यों नहीं दी ?

---

१. पत्र पूर्णसंख्या ५६८, ६८०, ७२१, ८५० ।

२. (पत्र-सारांश) पूर्ण संख्या ६६ । ३. पूर्णसंख्या १०१ ।

(उत्तर) १. सरकार यह नहीं चाहती थी कि श्री स्वामीजी के मार्ग से भारत का उत्थान हो।

२. यदि श्री स्वामीजी की वेदभाष्य-सरणि सत्य मान ली जाती तो इङ्गलैण्ड के अन्दर संस्कृताध्यापन का जो प्रकार चलाया जा रहा था, वह असत्य सिद्ध होता। उस समय सरकार को निश्चय हो जाता कि पाश्चात्य भाषा-विज्ञान निर्मूल है।

३. मैकाले प्रदर्शित सरकारी नीति के पोषकजन भारतीय युवकों को दास बनने का जो मार्ग निकाल रहे थे, वह निष्प्रयोजन हो जाता। तब रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, राजेन्द्रलाल मित्र आदि लोग पाश्चात्य लेखकों का उच्छिष्ट खाकर भारतीय परम्परा के खण्डन में प्रवृत्त न होते और वेद को पौरुषेय और कुछ ही सहस्र वर्ष पहले का बना हुआ न बताते।

उस काल की सरकार ने समझ लिया था कि दयानन्द सरस्वती का मार्ग भारतीय हृदय में आर्यगौरव का, आर्य-मान का भाव उत्पन्न कर देगा, अतः सरकार ने ऋषिदयानन्द सरस्वती को कोई सहायता न दी। परन्तु इतना धन्यवाद का स्थान है कि सरकार ने उस समय ऋषि के मार्ग में इस से अधिक कोई रोड़ा नहीं अटकाया।

फरुखाबाद से सहायता—वेदभाष्य के काम के लिये सरकार से सहायता प्राप्त न होने पर ऋषि निराश नहीं हुए। उन का काम शनैः-शनैः वृद्धि को प्राप्त हो रहा था। तीसरी और चौथी अक्तूबर १८७९ को फरुखाबाद समाज ने एक सहस्र रुपया वेदभाष्य और यन्त्रालयादि की सहायता में दिया।[1] पुनः फरुखाबादस्थ सज्जनों ने एक भारी सहायता वेदभाष्य के लिये दी।[2] फरुखाबादस्थ आर्यजनों की इस दूरदर्शिता के लिये विद्वन्मण्डल उन का चिरऋणी रहेगा।

लगभग २५ सितम्बर १८८० को श्री स्वामीजी लिखते हैं—

"मैं जानता हूं बहुत घूमने में हर्ज होगा।[3]"

---

१. भारतसुदशाप्रवर्तक, अक्तूबर सन् १८७९, पृ० ७ तथा पत्र पूर्ण संख्या ३५१ तथा ५५१। २. देखो पत्र पूर्णसंख्या ४२९।

३. पत्र पूर्ण संख्या ४७१।

ऋषि अनुभव कर रहे थे कि अधिक घूमने से उनके वेद-भाष्यादि के काम में बाधा पड़ती है। तदनुसार ऋषि ने शीघ्र ही अपना प्रचार क्रम बदला। वे एक-एक स्थान में अधिक दिन वास करने लगे। यदि उनका देहान्त इतना शीघ्र न होता तो संवत् १९४३ तक चारों वेदों का भाष्य पूरा हो जाता। ऋषि भाद्र वदी ५ सं० १९४० को मुंशी समर्थदान को लिखते हैं—

"परमेश्वर की कृपा से १ वर्ष में सब ऋग्वेदभाष्य पूरा हो जायगा और एक वा डेढ़ वर्ष साम और अथर्व में लगेगा।

परन्तु ऋषि के अकस्मात् दिवंगत हो जाने से यह महान् काम अधूरा ही रह गया।

(प्रश्न) आर्यसमाज का इस विषय में अब क्या कर्त्तव्य है?

(उत्तर) आर्यसमाज में तो अब घर-घर में वेदभाष्यकार हो रहे हैं। पं० क्षेमकरणदास, पं० तुलसीराम, पं० आर्यमुनि, पं० शिवशङ्कर काव्यतीर्थ, पं० राजाराम, पं० हरिशङ्कर, पं० जयदेव, पं० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री और पं० बुद्धदेव जी ने वेदों अथवा वेद के अंशों पर अपने-अपने भाष्य रचे हैं। मास्टर दुर्गाप्रसाद जी ने अङ्गरेजी में ऋग्वेद के एक बड़े भाग का अनुवाद निकाला था। इन सब के भाष्यों में अनेक उपादेय बातें मिलती हैं। इनके परिश्रम से भावी कार्य में बहुत लाभ होगा। परन्तु पूर्ण सुविधायें न होने से इन सब ही के काम में त्रुटियां भी भारी रही हैं। इन महानुभावों का पहला काम यह था कि वेदों तथा ऋषि दयानन्द सरस्वती की भाष्यशैली पर जो आक्षेप पाश्चात्य पद्धति के लेखकों ने किये हैं, उनका परिहार करते। ऐसा करते हुए इनकी विद्या परिमार्जित हो जाती। तब इनका परिश्रम भी अधिक मूल्यवान् होता। इन महाशयों ने वैदिक वाङ्मय का पूरा अवगाहन भी नहीं किया। आर्यसमाज ने इन्हें पूरी आर्थिक सहायता नहीं दी।

अब आर्यसमाज का यही मुख्य कर्तव्य है कि लाखों रुपये एकत्र करके अपने अनुसन्धालयों द्वारा वेदों पर किये गये नूतन आक्षेपों के उत्तर दिलवाये। उसके पश्चात् ऋषि के भाष्य की पूर्ति हो सकेगी। दुःख से कहना पड़ता है कि पूर्ण विद्वान् वेदभाष्य कर सकनेवाले पण्डितों की प्राप्ति के लिये भी आज विज्ञापन दिये

जाते हैं। पुष्प अपनी सुगन्धि से स्वयं पहचाना जाता है। पुष्प के पास लोग चलकर जाते हैं। इस प्रकार वेदभाष्य कर सकनेवाले के पास लोगों को स्वयं जाना पड़ेगा। परन्तु अभी भारतीयों की मनोवृत्ति ऐसी नहीं बनी है। यही कारण है कि इस काम में यथार्थ सफलता नहीं हो रही।

वेद-प्रचार—वेद का प्रचार तो पहले की अपेक्षा अब कुछ अधिक हो रहा है, परन्तु ध्येय बहुत दूर है। हम उस से लाखों कोस परे हैं। मूल वेद और ऋषिकृत वेदभाष्य की लाखों प्रतियां प्रतिवर्ष भारत में बिकनी चाहियें। अभी तक तो एक वर्ष में मूल वेद की तीन चार सहस्र प्रतियां भी भारत में नहीं बिकती हैं। लोग अन्य सब पदार्थों पर धन व्यय कर सकते हैं, पर वेद पर धन व्यय नहीं करते। ऋषि दयानन्द सरस्वती प्रणीत सत्यार्थप्रकाश की लाखों प्रतियां अब तक बिक चुकी हैं, परन्तु ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका की जो ऋषि की एक अपूर्व रचना है, बीस सहस्र से अधिक प्रतियां आज तक नहीं बिकीं। आर्यसमाज के लिए यह भी गम्भीर विचार का एक विषय है।

(प्रश्न) गांधीजी लिखते हैं—"मैं केवल वेद को ही अपौरुषेय नहीं मानता हूं। मैं तो बाइबल, कुरान और जिन्दावस्ता को भी वेदों की तरह ईश्वरप्रेरणा का फल मानता हूं।" (नवजीवन ७ अक्तूबर सन् १९२१, सत्य-निर्णय, पृ० ५१ पर उद्धृत।)

(उत्तर) श्री गांधीजी तो अपने अन्दर भी हजरत मुहम्मद और हजरत ईसा ऐसी ईश्वरप्रेरणा मानते हैं। वे भले ही ऐसा मानें और बाइबल और कुरान को ईश्वर-प्रेरणा का फल अथवा अपने को ईश्वर-दूत समझें, परन्तु वैदिक विद्वान् ऐसा नहीं मान सकते। गांधी जी की अनुभव की हुई ईश्वर-प्रेरणायें प्रायः परस्पर विरुद्ध और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सर्वथा विपरीत पड़ती हैं। पीछे से वे कह देते हैं कि उनसे हिमालय-सदृश महती भूल हुई है। यह अच्छी ईश्वर-प्रेरणा है कि उसमें स्पष्ट ही विरोध और भूल हो। यह भी स्पष्ट है कि बाइबल, कुरान और गांधी जी के विचारों में शतशः परस्पर विरुद्ध बातें हैं। अतः वे सब ईश्वर-प्रेरणा नहीं हो सकती हैं। इतनी बात से ही पाठक समझ सकते हैं कि श्री गांधी

जी को इस विषय का कुछ भी ज्ञान नहीं है। यदि उन्हें ज्ञान होता तो वे ऐसी असम्बद्ध बातें न कहते। देखो वेद संसार की किसी भी और कभी भी बोली जानेवाली भाषा में नहीं हैं। उनकी वेद से क्या तुलना हो सकती है। इसलिये संसार में जो वेद का स्थान है, वह अन्य किसी ज्ञान का नहीं है। गांधी जी का वेदसम्बन्धी यह विचार बाललीलामात्र ही है।

(प्रश्न) क्या गांधी जी अपने को पैगम्बर अथवा ईश्वर-दूत समझते हैं ?

(उत्तर) स्पष्ट तो वे ऐसा नहीं कहते, पर जब वे बहुधा ऐसा लिखते हैं कि उनको ईश्वर-प्रेरणा होती है, तो अन्दर से वे अपने को पैगम्बर ही समझते हैं। वे अपने को वेदों से बहुत ऊंचा समझते हैं और इसीलिये वैदिक आज्ञाओं का तिरस्कार करते हैं।

(प्रश्न) पाश्चात्य भाषा-शास्त्री तो सिद्ध करते हैं कि वेद भी एक बोली गई भाषा में है।

(उत्तर) वे भी कोरी निराधार कल्पना ही करते हैं। उन्हें आर्य इतिहास का ज्ञान नहीं है। यदि उन्हें सहस्रों वर्ष के आर्य इतिहास का ज्ञान होता तो वे ऐसी असत्य कल्पनायें न करते।

यह विषय अत्यन्त जटिल और विस्तृत है, अतः इसका यहां वर्णन नहीं हो सकता। परन्तु इस विषय का विस्तृत उल्लेख हमने अपने भारतवर्ष के इतिहास में कर दिया है।

३. आर्ष-ग्रन्थ और आर्य-संस्कृति

आर्ष-ग्रन्थों के सम्बन्ध में तो आर्यसमाज बहुत उदासीन है। आर्यसमाज ने अनेक गुरुकुल चलाए, पर आर्ष-ग्रन्थों द्वारा साङ्गोपाङ्ग वेदशिक्षा का प्रबन्ध कभी भी नहीं किया। यह सत्य है कि आर्ष-ग्रन्थों के श्रेष्ठ अध्यापकों का इस समय अभाव सा है, परन्तु श्रेष्ठ अध्यापक विपुल धनव्यय से ही बनेंगे। उन्हें, यदि वे गृहस्थ हैं, और सारा जीवन वेद के अध्ययन में अर्पण कर रहे हैं तो वेतन ३०० या ४०० रुपये[1] मासिक से न्यून नहीं देना होगा। फिर

[1]. यह आज से ३५ वर्ष पूर्व का लेख है। यु० मी०

उन्हें स्वतन्त्र स्वाध्याय के लिये समय भी बहुत मिलना चाहिये। वे तो सारे दिन में दो घण्टे ही अध्यापन कार्य करेंगे।

(प्रश्न) इतना धन कहां से आयेगा ?

(उत्तर) हम पहले ही लिख चुके हैं कि आर्यसमाज को प्रधानता से अंग्रेजी शिक्षा देनेवाली सब संस्थायें बन्द करनी पड़ेंगी। उनका सारा रुपया अथवा जिस शक्ति से उनके लिये रुपया आता था, वह रुपया और वह शक्ति संस्कृत विद्यालयों के सञ्चालन में लगानी होगी। ऐसे विद्यालय एक-एक प्रान्त में एक दो से अधिक नहीं होने चाहियें। फिर सब काम चल सकेगा। वेद और आर्ष ग्रन्थों का भूरि प्रचार होगा।

(प्रश्न) प्रत्येक नगर या ग्राम के आर्यसमाज की यह इच्छा होती है कि उनके अधिकार में भी कोई संस्था रहे।

(उत्तर) यह इच्छा स्वार्थवश हुई है। अनेक लोग उन संस्थाओं के सञ्चालक बनकर अपना स्वार्थ पूरा करते हैं। उनको ऋषि दयानन्द सरस्वती के ध्येय का कोई ध्यान नहीं। और कई भोले लोग तो देखा-देखी ऐसा कर रहे हैं। उनका दोष अधिक नहीं। आर्यसमाज को अपनी पूर्ण रुचि वेदादि शास्त्रों की ओर ही करनी पड़ेगी। ऋषि दयानन्द सरस्वती ने अपने स्वीकारपत्र में यह स्पष्ट लिखा है कि परोपकारिणी सभा को आर्षग्रन्थों का प्रकाशन करना चाहिये।[1] इस विषय में इस सभा ने अभी तक कोई स्तुत्य कार्य नहीं किया। ऋषि दयानन्द सरस्वती सदा आर्षग्रन्थों को पढ़ते रहते थे। उन्हें उनकी आवश्यकता प्रतीत होती थी, पर परोपकारिणी सभा के अधिकांश सदस्य इस विषय में कोरे हैं, उन्हें अब कौन समझाए।

(प्रश्न) संस्कृति किसे कहते हैं ?

(उत्तर) किसी जाति के सर्वोच्च में और दिव्य-पुरुषों के सर्वपुनीत और श्रेष्ठतम विचार वा उन का ज्ञान-समूह जब मनुष्यों में व्यवहार में आता है तो उसे संस्कृति कहते हैं। संसार और

---

१. द्र०—पूर्ण संख्या ४४७ तथा ७६० का स्वीकारपत्र की धारा १ का प्रथम भाग तथा पूर्णसंख्या ८८१, उपदेश ५।

आर्यजाति का श्रेष्ठतम ज्ञान वेद है। वह ज्ञान मनुष्य के मस्तिष्क की उपज नहीं। वह सर्वज्ञ सर्वात्मा ईश्वर का ज्ञान है और शब्द, अर्थ, सम्बन्ध रूप से अनादि है। उसका ज्ञान प्रत्येक मनुष्य को होना चाहिये। इस समय उस ज्ञान की प्रतिनिधि आर्यजाति है।

वेदज्ञान से उतर कर आर्ष-ज्ञान का स्थान है। ऋषि अर्थात् 'क्रान्तदर्शी' त्रिकालज्ञ लोग ईश्वर तो नहीं, पर मनुष्यों से सर्वथा ऊपर होते हैं। वात्स्यायन मुनि न्यायभाष्य (१।१।७) में लिखते हैं—**ऋष्यार्यम्लेच्छानां** ।

अर्थात् ऋषि, आर्य और म्लेच्छों का। इससे ज्ञात होता है कि भूतल पर ऋषि एक पृथक् ही श्रेणी है। वे आर्य और म्लेच्छों से बहुत उच्च हैं। ऐसे ऋषि ब्रह्मा, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, स्वायम्भुव मनु, कपिल और हिरण्यगर्भ आदि इस सतयुग के आरम्भ से होते आये हैं। उन्होंने भी वेद से ही सारे ज्ञान लिये। उनकी योगज शक्ति उनकी सहायक थी। उन ऋषियों ने वेद के आश्रय पर जो ज्ञान और व्यवहार मनुष्यमात्र को सिखाया, वही वस्तुतः संसार की वास्तविक संस्कृति है। उसी संस्कृति का पुनरुद्धार करनेवाले भगवान् दयानन्द सरस्वती थे।

(प्रश्न) श्री जवाहरलाल जी कहते हैं—अब पुरानी बातों को, पुरानी संस्कृति को छोड़ो। अब एक नई संस्कृति उत्पन्न की जायगी।

(उत्तर) वे अपने अल्प ज्ञान के कारण ही ऐसा कहते हैं। उन्होंने केवल पाश्चात्य-विचार का ही थोड़ा सा अध्ययन किया है। प्राचीन भारतीय इतिहास, जो यहां की संस्कृति का परिचायक है, उन्होंने नहीं पढ़ा। वे तो आर्यों को भारत का आदिवासी ही नहीं समझते। उन्हें वेद के महत्त्व का अणुमात्र भी ज्ञान नहीं है। अतः उन का ऐसा कथन विद्वानों के सम्मुख उपहासास्पद है। जवाहरलाल जी ने आज तक एक भी स्वोपज्ञ विचार प्रकट नहीं किया। उन्होंने तो सोवियत रूस आदि का ही अनुकरण करके कुछ बातें कही हैं। मौलिक विचार रखने के अभाव में वे नवीन संस्कृति उत्पन्न करने का स्वप्न लेते हैं।

वस्तुतः संस्कृति वैदिक ही है और शेष नाममात्र की संस्कृतियां अथवा उसका अपभ्रंश हैं।

जवाहरलाल जी ने तो अपनी कन्या को भी इङ्गलैंड में रखकर केवल अङ्गरेजी का ही अधिक अभ्यास कराया है। न वे आप संस्कृत पढ़े और न उन्होंने अपनी एकमात्र कन्या को संस्कृत पढ़ाई ! वे संस्कृत के प्रति अपने कर्तव्य को अथवा संस्कृत के आनन्द को क्या जान सकते हैं। मनु (४।२०) ने सत्य कहा है—

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥

यह पुरानी भारतीय संस्कृति ही है, जो संसार को फिर शान्ति दे सकती है, जो मानव के शरीर और मन को नीरोग कर सकती है, तथा जो वास्तविक दासता से मनुष्य को निकाल सकती है। जिन लोगों का मन कलुषित पाश्चात्य विचारों की दासता में जकड़ा हुआ है, वे प्राचीन भारतीय संस्कृति को क्या समझेंगे।

(प्रश्न) आर्य संस्कृति यदि संसार-उपकारिणी होती, तो उस का ह्रास क्यों होता ? प्रतीत होता है कि इस संस्कृति की कोई उपादेयता नहीं थी, अतः यह क्षीण हो गई। अब यह जागरित नहीं होगी।

(उत्तर) यह बात हास्यस्पद है। क्या तुम कभी रोगी नहीं हुए ? क्या स्वास्थ्य अनुपकारी होता है कि रोग आ जाता है ? नहीं। हम किसी ज्ञात अथवा अज्ञात भूल से स्वास्थ्य खो बैठते हैं। परन्तु रोगी होने पर हम चिकित्सा अवश्य करते हैं। क्या तुम रोगी होने पर अपनी चिकित्सा नहीं करते ? इसी प्रकार सत्य समझो कि अनेक कारणों से आर्य-संस्कृति रोग-ग्रस्त हो गई थी। इसका रोग साध्य है, असाध्य नहीं। अतः संस्कृति के समझनेवालों का यह प्रधान कर्तव्य है कि वे इस संस्कृति को रोगमुक्त करें। ऋषि दयानन्द सरस्वती का जन्म ही इस बात के लिये हुआ था। यदि इस अज्ञानान्धकार के युग में ऋषि ऐसा एक सतयुगीन पुरुष जन्म धारण कर सकता है, तो निश्चय है कि उसके चलाये हुए मार्ग को समझ कर और सहस्रों व्यक्ति भी उसी काम में लगेंगे। ऋषि-कृपा से सैकड़ों लोग इस काम में लग रहे हैं। अतः यह

संस्कृति निश्चित ही फिर फैलेगी। इसी बात का परिणाम है कि गांधी जी और जवाहरलाल जी की निर्मूल बातों का खण्डन करने के लिये हम कृत-सङ्कल्प हुए हैं।

(प्रश्न) आर्यसंस्कृति में आर्ष-ग्रन्थों का इतना आदर क्यों है?

(उत्तर) ऋषियों का ज्ञान बाह्य इन्द्रियों की सीमाओं से परे हो जाता है। वे क्रान्तदर्शी और प्रायः त्रिकालज्ञ हो जाते हैं। उन का सारा उपदेश मानव के हितार्थ होता है। वह वेद का व्याख्यान मात्र ही होता है। उसमें भ्रान्ति नहीं होती। वह इस लोक और परलोक से सम्बन्ध रखता है। वर्तमान मनुष्य का विचार अनुभव और प्रयोग का फल है। इसलिये उसमें पदे-पदे भ्रान्ति है। परन्तु इससे ऋषि ऊपर हैं। जो कोई आर्य संस्कृति को पहचानेगा उसे ऋषि दयानन्द सरस्वती के कथन की सत्यता ज्ञात हो जाएगी। ऋषियों के पश्चात् मुनियों के ग्रन्थ हैं। मुनियों के ग्रन्थ उपादेय तो होते हैं, परन्तु उनमें यत्र-तत्र भूल रह सकती है। वे क्रान्तदर्शी नहीं होते। इसके पश्चात् मनुष्य-रचित ग्रन्थों का स्थान है। वर्तमान सारा संसार केवल इन्हीं के आश्रय पर चलता है, अतः दुःख पा रहा है।

(प्रश्न) वेद और आर्ष-ग्रन्थों का मान गत २० वर्ष में भारत में बहुत ही न्यून हो गया है। इसका क्या कारण है?

(उत्तर) इसका एक कारण अंग्रेजी शिक्षा है। आज भाषा-साहित्य पर भी अंग्रेजी की गहरी छाप पड़ चुकी है। अंग्रेजी अथवा भाषा का कोई ग्रन्थ उठाओ, उसमें आपको कहीं-न-कहीं यह भाव अवश्य मिलेगा कि मनुष्य उन्नति कर रहा है। वह पहले युगों में थोड़ा उन्नत था और अब दिन-दिन अधिक उन्नति कर रहा है। प्रारम्भ से इस विचार में पले हुए लोग सत्य से बहुत दूर हो गये हैं। इसीलिए उनके हृदय में पुरातन ज्ञान का आदर न्यून हो रहा है।

इस का एक दूसरा कारण है गांधी-वाद। आर्यजाति सदा से शब्दप्रमाण को माननेवाली रही है। गांधी जी ने अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित होने के कारण शब्द-प्रमाण की अवहेलना की है। गांधी जी विकास-सिद्धांत को माननेवाले हैं। वे लिखते हैं—

सम्पूर्ण अन्य बातों की तरह मजहबी विचार भी उसी विकास-सिद्धान्त के अधीन हैं, जो कि इस सृष्टि की हर एक वस्तु पर लागू है। (यङ्ग इण्डिया, ४ सितम्बर सन् १९२४)।

इस असत्य को मानने के कारण ही गांधी ने अनेक भूलें की हैं। सामूहिक रूप से तो संसार वस्तुतः ह्रास की ओर ही जा रहा है। गत दो सौ वर्ष में जो कतिपय यन्त्र बने हैं, ये पुरातन-ज्ञान का एक अंशमात्र भी नहीं हैं। इन्हें देख सुन कर केवल पाश्चात्य शिक्षा में पला व्यक्ति आश्चर्य-चकित हो जाता है। वह विकास-सिद्धान्त को मानने लगता है। उसे संसार के सहस्रों वर्ष पुराने ज्ञान का पता ही नहीं है। वह युग युग के ह्रास से सर्वथा अपरिचित है। यही हेतु है कि प्राचीन ज्ञान को न जानने के कारण गांधी जी ने उसकी प्रामाणिकता नष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया है। जब आर्य लोग आर्य इतिहास को भले प्रकार पढ़ेंगे, तो उन्हें गांधी जी का मत सर्वथा निःसार होता प्रतीत होगा। वे समझेंगे कि गांधी जी ने यह भारी अनिष्ट किया था। साधारण व्यवहार तो मनुष्य की बुद्धि से चल सकता है, पर उच्च सत्य के जानने में मनुष्यबुद्धि प्रमाण नहीं है। वह तो वेद और आर्षज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है।

शब्द-प्रमाण को मानने का भाव आर्यसमाज में भी कुछ अल्प हुआ है। उसका कारण है श्री विश्वबन्धु जी जैसे व्यक्तियों का आर्यसमाज की संस्थाओं में घुसे रहना। अपनी बुद्धि को ही प्रमाण मानने वाले बाबू लोग आर्यसमाज की निर्बलता का कारण बने हुए हैं। ऋषि दयानन्द सरस्वती के आदर्श को समझने वाले व्यक्तियों को इन से सावधान रहना चाहिये।

४. अंग्रेजी शिक्षा की शालाएं खोलने के विरोधी ऋषि दयानन्द सरस्वती

पूर्वमुद्रित वचनों की पूर्णसंख्या ४५७ तथा ६५६ के कतिपय वाक्य ध्यान देने योग्य हैं। इन के साथ निम्नलिखित वचनों पर भी ध्यान देना चाहिए—

[४५७] अंग्रेजी का प्रचार तो जगह जगह सम्राट् की ओर से जिन की यह मातृभाषा है भले प्रकार हो रहा है। अब इसकी वृद्धि

में हम तुमको इतनी आवश्यकता नहीं दीखती। और न सम्राट् के समान कुछ कर सको हैं।

[४६०] जैसे मिशन स्कूलों में लड़के अपने अन्य स्वार्थ-सिद्धि के लिए बाईबल सुन लेते हैं और कुछ ध्यान नहीं देते, वैसे जो संस्कृत सुन लिया तो क्या लाभ होगा?

अंग्रेजी शिक्षा की शालाओं का इससे अधिक बलवत्तर विरोध और क्या होगा। आर्यसामाजिक लोगों को इस पर ध्यान देना चाहिए।

(प्रश्न) जिस प्रकार की शिक्षा के ऋषि दयानन्द सरस्वती इतने विरोधी थे, वही शिक्षा आर्यसमाज ने क्यों अपनाई?

(उत्तर) यह दुर्भाग्य का विषय है कि ऋषि के निधन के पश्चात् उन की पवित्र स्मृति में आर्यसमाज लाहौर, (पञ्जाब) ने वही काम किया, कि जिसका विरोध ऋषि तीव्र शब्दों में करते रहे। उसी कुकल्पना का फल आज प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ऋषि दयानन्द सरस्वती की स्मृति में स्थापित की गई संस्था में ही वेद और आर्षग्रन्थों के अनेक विरोधी काम करते हैं। जब कोई सच्चा आर्यपुरुष इस पर आपत्ति उठाता है, तो अनेक कथित-आर्यसमाजी जो प्रच्छन्न बौद्ध हैं और जो प्रबन्धक बने बैठे हैं, उस का मुख बन्द करने का यत्न करते हैं।

(प्रश्न) क्या भारत की भावी शिक्षा संस्कृत माध्यम द्वारा होगी?

हां होगी, पर इसके लिये आर्यों को सारी राजनीतिक शक्ति अपने हाथों में लेनी होगी। उन्हें "इण्डियन नैशनल कांग्रेस" को या तो समाप्त करना पड़ेगा या इस की मनोवृत्ति भारतीय बनानी होगी।

(प्रश्न) कांग्रेस की मनोवृत्ति भारतीय नहीं है?

(उत्तर) नहीं है, सर्वथा नहीं है। कांग्रेस वालों ने ही "नैशनल" शिक्षा के नाम से अंग्रेजी शिक्षा की शालाएं खोली थीं। श्री गान्धी जी विद्यामन्दिर योजना की आड़ में साक्षात् अर्बी फारसी का प्रचार कर रहे हैं। सन् १९४२ में पं० जवाहरलाल ने विदेशी पत्रकार से कहा था कि भारत में अंग्रेजी तो बनी ही रहेगी। ये बात प्रमाणित

करती हैं कि जब कांग्रेस के नेताओं की नीति अभारतीय है तो कांग्रेस की नीति भी वैसी ही होगी।

(प्रश्न) अब तो भारत में ये स्कूल ही चलेंगे। छात्र और छात्राओं में जो विलासिता का भाव इस वर्त्तमान शिक्षा ने, कार्लमार्क्स के सिद्धान्तों ने और पश्चिम तथा विशेष कर रूस के संसर्ग ने उत्पन्न कर दिया है वह ही प्रबल रहेगा।

(उत्तर) यह सत्य है कि इस शिक्षा ने युवक और युवतियों को विलासिता के कराल गाल में अत्यधिक धकेला है। हम देखते हैं कि इसी बात के परिणाम स्वरूप अनेक बी० ए०, एम० ए० युवतियां प्रतिवर्ष आत्मघात कर रही हैं। परन्तु यह तो सब कोई जानता है कि यह मार्ग मृत्यु का मार्ग है। आर्यसमाज को तो इस मार्ग से बहुत परे रहना चाहिये। कन्याओं के स्कूल और कालेज कर, जहां खोल आधे से अधिक अध्यापकवर्ग कार्लमार्क्सवादी कम्यूनिस्टों का है, आर्यसमाज ने एक अकथनीय अघ किया है वह ऋषिमार्ग से पतित हुआ है।

(प्रश्न) ऋषि दयानन्द सरस्वती वर्तमान स्कूलों के सम्बन्ध में क्या आदेश करते?

(उत्तर) ऋषि के भाव उनके एक पत्र से जाने जा सकते हैं। वे पत्र पूर्णसंख्या ६०० में लिखते हैं—

"पाठशाला में संस्कृत पढ़ के कितने विद्यार्थी समर्थ हुए। अथवा अंग्रेजी फारसी में ही व्यर्थ धन जाता है। सो लिखा। **'जो व्यर्थ ही हो तो क्यों पाठशाला रखी जाय।'** [दूसरे भाग में]

इस पत्र से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ऋषि प्रधानतया अंग्रेजी शिक्षा देने वाली शालाएं खोलने के घोर विरोधी थे। ऋषि वर्तमान समस्त स्कूलों और कालेजों को बन्द करा देते। श्रेष्ठ फल के अभाव में जब ऋषि ने अपनी खोली या खुलवाई अनेक शालाएं बन्द कर दीं, तो वे इन स्कूलों के बन्द कराने में लेश भर भी संकोच न करते। आर्यसमाज उन के मार्ग से सर्वथा विपरीत जा रहा है।

(प्रश्न) स्कूल और कालेज सञ्चालक आर्यसमाजी तो बड़े बड़े लम्बे व्याख्यान देते हैं कि स्कूलों द्वारा आर्यसमाज का बड़ा प्रचार हुआ है। क्या यह सत्य नहीं?

(उत्तर) इन स्कूलों और कालेजों में से घुणाक्षरन्याय से कभी कभी कोई अच्छा संस्कृत विद्वान् तथा आर्यसंस्कृति का अनन्य सेवक उत्पन्न हुआ है। अधिकांश लोग तो पाश्चात्य विचारों के दास ही उत्पन्न हुए हैं। अतः इन स्कूलों की प्रशंसा में व्याख्यान देना अपनी दास-मनोवृत्ति का प्रकाश करना है।

प्यारे भारतीयों, ऋषियों की सन्तानों, राम और कृष्ण के नाम लेवाओ, मत इधर उधर भटको। मार्ग तो एक ऋषि दयानन्द सरस्वती का ही बताया हुआ है। यह मार्ग यद्यपि कठिन, अंग्रेजी शासन के बन्दीगृह में जाने की अपेक्षा शतगुण अधिक कठिन है, पर है यही एक मार्ग। इसके लिए कटिबद्ध होना पड़ेगा।

५ ऋषि दयानन्द और देशी रियासतें

ऋषि दयानन्द सरस्वती जान चुके थे अंग्रेजी शिक्षा के कुप्रभाव के कारण देशी राज्यों में से आर्य आदर्श लुप्त हो चुके हैं। वे रियासतों के प्रबन्धकों की त्रुटियां बहुत भले प्रकार जानते थे, पर वे चाहते थे कि—

(क) आर्य राजा संस्कृत पढ़कर प्राचीन आदर्श को पुनर्जीवित करें।

(ख) आर्य राजाओं के समस्त राज्य-सञ्चालक संस्कृत पठित और इसी आदर्श के मानने वाले हों।

(ग) राज-वर्ग के बालक आरम्भ से आर्ष शिक्षा प्राप्त करें और अंग्रेजी आदर्श न सीखें।

(घ) रियासतों में मनु का धर्मशास्त्र प्रचलित हो और नया कानून न चले।

(ङ) रियासतें आर्य संस्कृति की रक्षक बनें।

(च) रियासतें नष्ट न हो जायें। उनका अस्तित्व बना रहे। उन में प्रजातन्त्र का वर्तमान निकृष्ट रूप प्रचलित न हो, प्रत्युत मनु-प्रदर्शित राजनियम ही चलें।

(छ) राजवर्ग व्यसनी न हों और पितृवत् प्रजा पालन करें।

(ज) रियासतों में गोरक्षा का पूरा ध्यान रखा जाये। रियासतों का सब कार्य संस्कृत और आर्यभाषा में हो।

(झ) क्षत्रियवर्ग में प्राचीन क्षात्र आदर्श स्थिर रहें और यज्ञ-याग बहुत हों।

इत्यादि अनेक बातें हैं जो इन पत्रों से जानी जा सकती हैं। आर्यसमाज ने इस ओर अणुमात्र भी ध्यान नहीं दिया।

६ ऋषि दयानन्द सरस्वती और राज्य-व्यवस्था

भारत की गहरी निद्रा के पश्चात् ऋषि दयानन्द सरस्वती पहले पुरुष थे जिन्हें भारत में देशोन्नति और स्वराज्य का यथार्थ ध्यान आया। उनके प्रत्येक तीसरे चौथे पत्र में देशोन्नति का शब्द दिखाई देता है। स्वराज्य का शब्द भी पहले पहल उन्होंने ही प्रयुक्त किया। उनका स्वराज्य संसार पर सांस्कृतिक विजय द्वारा आता। वे इस विजय में अटल विश्वास रखते थे। वे इस महान् कार्य के योग्य थे। भारत का स्वराज्य लाकर ऋषि संसार की राज्य-व्यवस्था को ठीक करते। उनके देहान्त को आज ६२ वर्ष[1] हो गये। आर्यसंस्कृति को सजीव रूप में जानने वाला अभी दूसरा व्यक्ति भारत में नहीं जन्मा। आर्यसमाज ऋषि के इस काम को नहीं चला सका। आर्यसमाज संसार का सांस्कृतिक विजय तो क्या करता, उसके अपने अन्दर ऐसे बहुसंख्यक लोग हो गये हैं, जिन पर अंग्रेजी शिक्षा के कारण वर्तमान संस्कृतियों का गहरा प्रभाव पड़ चुका है। आर्यसमाज के लिए यह विषय विचारणीय है।

इसी प्रकार पत्रों में ऋषि ने और अनेक उज्ज्वल विचार प्रकट किये हैं। पाठक उन से स्वयं लाभ उठायें। समयाभाव से हम उन पर प्रकाश नहीं डाल सके।

पत्रों के प्रकाशन में श्री मामराज जी का पूरा सहयोग रहा है। मेरे पुत्र श्री सत्यश्रवा एम० ए० ने कई वर्ष तक काम में सहायता दी है। श्री गुरुदेव जी विद्यालङ्कार ने प्रेस कापी के कई स्थान लिखे हैं। श्री पूज्य हरविलास जी सारडा मन्त्री परोपकारिणी सभा ने तो बहुत ही सहायता की है और परामर्श दिये हैं। श्री पं० ब्रह्मदत्त जी

---

१. यह वर्ष संख्या इस भूमिका के लिखते समय की है। अब तो ऋषि दयानन्द के निधन को ११० वर्ष (सन् १९९३ तक) हो गये हैं। इन ४८ वर्षों में आर्यसमाज की स्थिति उत्तरोत्तर अधिक बिगड़ी है। यु० मी०

जिज्ञासु और श्री पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक ने भी असाधारण सहायता की है। परिशिष्ट[1] के पत्रों के लिये मेरठ निवासी ला० रामशरण दास के पौत्रों ने विशेष सहायता की है। उन में से ला० परमात्माशरण जी ने बहुत समय लगा कर पुराने कागज ढूंढे हैं। अनेक महानुभावों ने गत तीस वर्ष में समय समय पर इस कार्य में सहायता दी है। उन में से अनेक के नाम पहले लिखे जा चुके हैं। इन सब मित्रों और महानुभावों का मैं हार्दिक कृतज्ञ हूं। मैं उन्हें शतशः धन्यवाद देता हूं। उनकी सहायता के बिना यह महान् कार्य इस रूप में कभी प्रकाशित न होता।

श्री प्रो० धीरेन्द्रवर्मा एम० ए० प्रयाग, श्री प्रो० महेशप्रसाद जी साधु बनारस, श्री पं० वाचस्पति एम० ए० लाहौर तथा कविराज सूरमचन्द बी० ए० लाहौर का धन्यवाद करता हूं, जिन्होंने पत्रों की की प्रतिलिपियों के प्रदान में अथवा संशोधन में भारी सहायता की है। तथा बाबू ओम्प्रकाश बी० ए० खातौली निवासी और ला० उग्रसेन जी ने भी श्री मामराज को बहुत सुविधाएं दी है। उन का भी बहुत बहुत धन्यवाद है।

इन सब के साथ श्री ला० हंसराज जी ने तो सहायता और उदारता में कोई न्यूनता नहीं रहने दी। ला० हंसराज जी ने प्रेस की ओर से मुद्रण में असाधारण सावधानता दिखाई है। इन महानुभावों का मैं जितना धन्यवाद करूं थोड़ा है। युद्ध के गत महार्घ दिनों में सहस्रों रुपये का व्यय करके इस ग्रन्थ को मुद्रण कराना इन्हीं का मुख्य काम था।[2]

---

१. प्रथम संस्करण में कुछ पत्र परिशिष्ट में छपे थे, उन की ओर यह संकेत है। वे पत्र द्वितीय संस्करण में यथा यथास्थान जोड़ दिये थे। द्वितीय संस्करण छपने के पश्चात् कुछ पत्र सारांश पत्र-सूचनायें और विज्ञापनादि उपलब्ध हुये थे, उन्हें हमने द्वितीय संस्करण के प्रथम परिशिष्ट में छापा था। इस वर्तमान तृतीय संस्करण में उन्हें भी यथास्थान जोड़ने का प्रयत्न किया है। **यु० मी०**

२. यह प्रथम संस्करण के समय की बात है। वर्तमान में घोर मंहगाई के काल में तृतीय संस्करण में इस ग्रन्थ के साङ्गोपाङ्ग प्रकाशन में लगभग ५५-६० सहस्र रुपया व्यय करना अत्यल्प साधन वाले रामलाल कपूर ट्रस्ट

ईडर राज्य के दीवान, वेदभक्त, स्वाध्यायशील, आर्य हृदय रखने वाले श्री ला० जगन्नाथ जी भण्डारी, एम० ए० हमें अत्यधिक सहायता दे रहे हैं। उनकी आर्थिक सहायता के विना हमारा अनुसन्धान कार्य मन्थर गति से चलता। यदि गत दो वर्ष में हम अधिक कार्य कर पाये हैं, तो यह उन्हीं की उदार सहायता का फल है। हम उनके बहुत ऋणी हैं। यह ग्रन्थ उन्हीं को समर्पित है।

आश्चर्य का विषय है कि श्री दीवान जी उसी राज्य के प्रधान मन्त्री हैं, जो शूरवीर ऋषि-भक्त महाराजा श्री प्रतापसिंह जी के कुल में हैं।

ईश्वर करे अज्ञान में पड़ा संसार इस ग्रन्थ से लाभ उठाये।

माडल टाऊन (लाहौर)
९ दिसम्बर १९४५
रविवार

भगवद्दत्त

का ऐसा असाधारण कार्य है। जिसे लाखों करोड़ों की सम्पत्ति रखने वाली सभाएं भी नहीं कर सकतीं। यु० मी०